“भरत मुनि का ‘नाट्यशास्त्र’ और हिंदी सिनेमा

(‘शोले’ फिल्म की रस-योजना के संदर्भ में)”

“BHARAT MUNI KA ‘NATYASHASTR’ AUR HINDI CINEMA

(‘SHOLAY’ FILM KI RAS-YOJNA KE SANDARBH MEIN)”

A dissertation submitted during 2019 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of **M.phil. Degree** in the Department of Hindi, School of Humanities.

By- **B.V.N UMA GAYATHRI**

18HHHL01

2019

Department of Hindi

School of Humanities

University of Hyderabad

Central University (P.O)

Prof. C. R.Rao Road

Gachibowli

Hyderabad - 500 046

Telangana

INDIA

D E C L A R A T I O N

I, **B.V.N UMA GAYATHRI**, hereby declare that this dissertation, entitled **"BHARAT MUNI KA 'NATYASHASTR' AUR HINDI CINEMA ('SHOLAY' FILM KI RAS-YOJNA KE SANDARBH MEIN)" [भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' और हिंदी सिनेमा ('शोले' फिल्म की रस-योजना के संदर्भ में)]** submitted by me under the guidance and supervision of **Pro. ALOK PANDEY** is a bonafide research work which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited in Shodhganga /INFLIBNET.

Name: **B. V. N UMA GAYATHRI**

(Signature of the Student):

Reg. No. 18HHHL01

Date:

Place: Hyderabad

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation entitled **"BHARAT MUNI KA 'NATYASHASTR' AUR HINDI CINEMA ('SHOLAY' FILM KI RAS-YOJNA KE SANDARBH MEIN)" [भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' और हिंदी सिनेमा ('शोले' फिल्म की रस-योजना के संदर्भ में)]** submitted by **B. V. N UMA GAYATHRI** bearing Reg. No.18HHHL01 in partial fulfillment of the requirements for the award of Master of Philosophy in Hindi is a bonafide work carried out by her under my supervision and guidance which is, as far as I know, a plagiarism free dissertation and has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor:

Head of the Department:

Dean of the School:

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

भूमिका 1-5

प्रथम अध्याय

भरत मुनि और उनका ‘नाट्यशास्त्र’ : परिचय एवं महत्व 6-20

1.1. ‘नाट्यशास्त्र’ की उत्पत्ति

1.2. ‘नाट्यशास्त्र’ का परिचय

1.3. ‘नाट्यशास्त्र’ का स्वरूप

1.4. ‘नाट्यशास्त्र’ का रचना-काल

1.5. ‘नाट्यशास्त्र’ की रचना-शैली

1.6. ‘नाट्यशास्त्र’ के रचनाकार - भरत मुनि का परिचय

1.7. ‘नाट्यशास्त्र’ का महत्व

द्वितीय अध्याय

रस-सिद्धांत : परिचय एवं महत्व 21-54

2.1. ‘रस’ शब्द का अर्थ और उसका इतिहास

2.2. रस की परिभाषा

2.3. रस का स्वरूप

2.4. रस के अवयव

2.5. रस-संख्या व उनके भेद

2.6. रस-सिद्धांत का विकास

2.7. रस-निष्पत्ति एवं रस का स्थान

2.8. साधारणीकरण एवं रस का महत्व

2.9. अंगीरस व अंगभूत रस

2.10. रसों का परस्पर विरोध

2.11. रसदोष व रसाभास

तृतीय अध्याय

हिंदी सिनेमा : परिचय एवं महत्व 55-67

3.1. सिनेमा : स्वरूप एवं प्रकार

3.2. हिंदी सिनेमा का उद्भव और विकास

3.3. हिंदी सिने-आलोचना व सिने-सिद्धांत

3.4. सिनेमा का महत्व

चतुर्थ अध्याय

'शोले' फिल्म : परिचय एवं महत्व 68-76

4.1. 'शोले' फिल्म का कथानक

4.2. 'शोले' फिल्म के कलाकार

4.3. 'शोले' फिल्म : समीक्षा और महत्व

4.4. 'शोले' फिल्म को प्राप्त पुरस्कार व सम्मान

पंचम अध्याय

'शोले' फिल्म की रस-योजना 77-126

5.1. सिनेमा का सौंदर्यशास्त्र तथा 'शोले' फिल्म

5.2. 'शोले' फिल्म का संधि-विवेचन

5.3. 'शोले' फिल्म का अंगीरस

5.4. 'शोले' फिल्म के अंगभूत रस

5.5. 'शोले' फिल्म में अभिव्यक्त विरोधी रस

5.6. 'शोले' फिल्म में रसदोष व रसाभास

उपसंहार 127-131

संदर्भ सूची 132-135

भूमिका

भूमिका

प्राचीन वांग्मय में काव्य के जो भेद बताये गये हैं (श्रव्य काव्य, दृश्य काव्य एवं दृश्य-श्रव्य काव्य) उनमें नाट्य विधा दृश्य-श्रव्य काव्य के अंतर्गत आती है। इस प्राचीन नाट्य विधा का आधुनिक व तकनीकी रूपांतरण ही सिनेमा है। जिस प्रकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक काल में उपन्यास को महाकाव्य का स्थानापन्न कहा था उसी प्रकार नाट्य विधा का आधुनिक रूपांतरण सिनेमा कहा जा सकता है। जिस तरह हर साहित्य अपने समाज का प्रतिबिंब होता है उसी तरह हर कला का जन्म अपने समाज से ही होता है। भले ही हर कला में उसके समाज के यथार्थ का चित्रण होता हो मगर किसी भी कलाकृति में यथार्थ का यथावत चित्रण नहीं होता। केवल घटित यथार्थ का यथावत चित्रण करना इतिहासकार का काम होता है। एक कलाकार तो वास्तविकता को अपनी कल्पनाशीलता एवं सृजनात्मकता से सँवार देता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक व काव्यशास्त्रीय अरस्तु ने साहित्य को उसके इसी गुण के आधार पर अपने गुरु प्लेटो के विपरीत इतिहास से श्रेष्ठ बताया है। उनका कहना था कि इतिहासकार केवल घटित तथ्यों का वर्णन करता है जबकि कवि या साहित्यकार घटित तथ्यों के साथ संभावित को भी अभिव्यक्त करता है। कलाकार अपनी कलाकृति के माध्यम से अपने सामाजिकों के सामने समाज की समस्याओं को व प्रश्नों को उठाता है तथा उन्हें उन पर विचार करने के लिए बाध्य करता है। इतना ही नहीं कभी-कभी वह अपनी कलाकृति के माध्यम से उन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा भी करता है। कला का ही एक रूप होने के नाते यही सारे लक्षण सिनेमा पर भी लागू होते हैं। हर कला की तरह सार्थक सिनेमा के दो मुख्य उद्देश्य होते हैं- अपने दर्शकों का मनोरंजन करना व उन्हें संदेश देना। इन दोनों उद्देश्यों की एक साथ पूर्ति करने वाला सार्थक सिनेमा अपने दर्शकों को सौंदर्यानुभूति की भूमि पर ले जाने का सामर्थ्य रखता है। सौंदर्यबोध भारतीय हो या पाश्चात्य, उसके दो निर्णायक तत्व प्रीति या आनंद तथा विस्मय या चमत्कार होते हैं जिनमें प्रीति या आनंद तत्व को प्रामुख्यता दी गयी है। सौंदर्य का मुख्य निर्णायक प्रीति या आनंद तत्व होता है व कला के जो दो प्रयोजन बताये गये हैं उनमें प्राथमिक प्रयोजन भी प्रीति ही है। इसलिए जितना आवश्यक किसी भी सिनेमा की नीतिपरक समीक्षा है उतना ही ज़रूरी है उसके प्रीति तत्व का सैद्धांतिक विवेचन करना। इस प्रीति या आनंद तत्व के सैद्धांतिक विवेचन का आधार भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धांत को बनाया जा सकता है क्यों कि आनंद के परम आस्वाद रूप को ही रस कहा गया है। यही कारण है कि भरत मुनि के संपूर्ण 'नाट्यशास्त्र' में उसका छठा व सातवाँ अध्याय -'रसाध्याय' एवं 'भावाध्याय' सर्वाधिक चर्चित रहें। न केवल कलाओं में अपितु इनसान की ज़िंदगी के हर क्षेत्र में रसों व भावों की सक्रीय भूमिका होती है।

प्राचीन नाट्य विधा के आधुनिक रूपांतरण- सिनेमा पर भारतीय काव्यशास्त्र के सर्वप्रथ आचार्य भरत मुनि द्वारा नाट्य विधा पर रचे गये ग्रंथ- 'नाट्यशास्त्र' के प्रभावों का अध्ययन करने की इच्छा मेरे मन में हैदराबाद विश्वविद्यालय में ऐ. एम्. ए करते समय आदरणीय गुरुजन प्रो. आलोक पाण्डे सर तथा प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी सर द्वारा पढ़ाये गये क्रमशः ''सिनेमा' एवं 'भारतीय काव्यशास्त्र' पाठ्यक्रमों को पढ़ने के बाद से ही विद्यमान थी। इसलिए मैंने अपने लघु शोधकार्य के लिए अपने शोध निर्देशक प्रो. आलोक पाण्डे सर के सुझाव के उपरांत, लघु शोधकार्य की समय सीमाओं के कारण संपूर्ण 'नाट्यशास्त्र' को न लेते हुए उसके सर्वाधिक चर्चित 'रसाध्याय' को अध्ययन का आधार चुना है तथा सार्थक हिंदी सिनेमा के एक मील के पथर- 1975 में निर्देशक रमेश सिप्पी द्वारा बनायी गयी 'शोले' फिल्म पर उसके प्रभावों को देखने की चेष्टा की है। यह फिल्म हिंदी सिनेमा के सौ वर्षों के इतिहास की एक सर्वश्रेष्ठ फिल्म है जिसने समीक्षकों तथा दर्शकों द्वारा समान रूप से सराहना प्राप्त की है। अपने इस लघु शोधप्रबंध में मैंने इस फिल्म में उपस्थित रस तथा उनके अवयव क्या हैं, उन रसों की प्रस्तुती किस अनुपात में की गयी है, फिल्म के अंगी व अंगभूत रस कौनसे हैं, कथा के मुख्य फल की प्राप्ति में उन रसों का सहयोग क्या है तथा उनका सुव्यवस्थित प्रदर्शन किस प्रकार किया गया है, इन सवालों पर भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धांत के आधार पर विचार करने की कोशिश की है। इस कार्य को संपन्न करने के लिए मैंने अध्ययन, विश्लेषण व अनुप्रयुक्त शोध प्रविधियों का उपयोग किया है। अध्ययन की सुविधा के लिए मैंने इस विषय को पांच अध्यायों में विभाजित किया है -

1. प्रथम अध्याय - भरत मुनि और उनका 'नाट्यशास्त्र' : परिचय एवं महत्व
2. द्वितीय अध्याय – रस-सिद्धांत : परिचय एवं महत्व
3. तृतीया अध्याय - हिंदी सिनेमा : परिचय एवं महत्व
4. चतुर्थ अध्याय -'शोले' फिल्म : परिचय एवं महत्व
5. पंचम अध्याय -'शोले' फिल्म की रस-योजना

''भरत मुनि और उनका 'नाट्यशास्त्र' : परिचय एवं महत्व'' नामक प्रथम अध्याय को मैंने सात उपाध्यायों में विभाजित किया है। इसमें ब्रह्म देव द्वारा नाट्य की उत्पत्ति की कथा, 'नाट्यशास्त्र' का परिचय तथा उसके 36 अध्यायों का विष्य-संक्षेप प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात 'नाट्यशास्त्र' के षट्साहस्त्री एवं द्वादशसाहस्त्री स्वरूपों तथा उसके अध्यायों की संख्या को लेकर जो विवाद है उनकी चर्चा करते हुए 'नाट्यशास्त्र' के स्वरूप पर प्रकाश ड़ाला है। इसके उपरांत 'नाट्यशास्त्र' का रचना-काल, उसकी रचना-शैली, उसके रचनाकार भरत मुनि का परिचय, उनके व्यक्तित्व को लेकर विद्वानों

में जो विवाद है उसका परिचय तथा 'नाट्यशास्त्र' के महत्व को लेकर विचार प्रस्तुत किये हैं। 'नाट्यशास्त्र' के महत्व को लक्षित करते हुए उसमें संपूर्ण 'नाट्यशास्त्र' में से सर्वाधिक चर्चित 'रसाध्याय' की लोकप्रियता की तरफ भी संकेत किये हैं तथा अपने लघु शोधकार्य के लिए 'रसाध्याय' को ही आधार बनाने के पीछे के कारणों का भी उल्लेख किया है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक "रस-सिद्धांत : परिचय एवं महत्व" है जिसे ग्यारह उपाध्यायों में विभाजित किया गया है। इसमें 'रस' शब्द का अर्थ, भारतीय वांग्मय का सर्वप्रथम ग्रंथ माने जाने वाले ऋग्वेद से लेकर भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धांत तक 'रस' शब्द का अलग-अलग अर्थों में प्रयोग, रस-सिद्धांत के आधार पर रस की परिभाषा, उसका स्वरूप उसके अवयव तथा नाट्य में रसों की संख्या, उनके भेदों व उपभेदों पर चर्चा की गयी है। इसके पश्चात संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य भरत मुनि से लेकर क्रमशः भामह, दंडी, वामन आदि से होते हुए पण्डितराज जगन्नाथ तक सबके रस संबब्धी विवेचनों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इन सभी के मतों में से रस-सिद्धांत के संदर्भ में सबसे अधिक चर्चित चार व्याख्याकारों के रस-निष्पत्ति को लेकर दिये गये सिद्धांत- भट्ट लोल्लट का 'उत्पत्तिवाद', भट्ट शंकुक का 'अनुमितिवाद', भट्ट नायक का 'भुक्तिवाद' तथा अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' पर विचार किया गया है। इसके पश्चात भट्ट नायक के 'भुक्तिवाद' में प्रतिपादित व रस-सिद्धांत के संदर्भ में सर्वाधिक चर्चित विषय 'साधारणीकरण' की अवधारणा, संस्कृत काव्यशास्त्र में उसको लेकर किये गये विवेचन तथा रस के महत्व पर प्रकाश ड़ाला गया है। इसके पश्चात नाटक के अंगीरस, अंगभूत रस, उसमें विरोधी रसों का प्रयोग तथा नाटक में चित्रित रसों में रसदोषों व रसाभास की संकल्पनाओं पर प्रकाश ड़ाला गया है।

तृतीय अध्याय 'हिंदी सिनेमा : परिचय एवं महत्व' नाम से है। इस अध्याय को चार उपाध्यायों में विभाजित कर इसके प्रथम उपाध्याय में मैंने सिनेमा के स्वरूप व प्रकारों पर विचार किया है। द्वितीय उपाध्याय 'हिंदी सिनेमा का उद्भव और विकास' नाम से है जिसमें 1913 में दादासाहब फालके द्वारा बनायी गयी भारत की सर्वप्रथम फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' से लेकर आज तक के सिनेमा के सौ वर्षों के भव्य इतिहास पर प्रकाश ड़ाला है। इसके पश्चात हिंदी सिनेमा के इस भव्य इतिहास के बावजूद बहुत सालों तक हिंदी साहित्य में सिनेमा को लेकर गंभीर लेखन का जो अभाव रहा उस पर विचार करते हुए हिंदी साहित्य में सिने-आलोचना पर रचित कुछ पुस्तकों का उल्लेख किया है। इसके उपरांत इन्हीं उल्लिखित पुस्तकों में से एक पुस्तक- अनुपम ओझा द्वारा रचित 'भारतीय सिने-सिद्धांत' में भारत के सर्वप्रथम फिल्मकार दादासाहब फालके का भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर एक सुव्यवस्थित भारतीय सिने-सिद्धांत के निर्माण के स्वप्न को लेकर जो संकेत किये गये हैं उन पर

प्रकाश ड़ालते हुए भारतीय सिनेमा पर लगभग 2000 वर्ष पूर्व रचित भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' से लेकर फारसी थियेटर, हॉलीवुड, इटालियन नवयथार्थवादी सिनेमा, भारतीय पौराणिक मिथक आदि जिन तत्वों का प्रभाव देखा जा सकता है उन सबको ध्यान में रखते हुए एक सुव्यवस्थित सिने-सिद्धांत के निर्माण की आवश्यकता के प्रश्न पर विचार किया गया है। अंतिम उपाध्याय में समाज मैं सिनेमा के महत्व को दर्शाया गया है तथा इस लघु शोधकार्य के लिए 'शोले' फिल्म को चुनने के पीछे के कारणों को लक्षित किया गया है।

''शोले' फिल्म : परिचय एवं महत्व' नामक चतुर्थ अध्याय को भी चार उपाध्यायों में विभाजित किया गया है। इन चार उपाध्यायों में क्रमशः 'शोले' फिल्म के कथानक, उसके चरित्र व कलाकारों की सूची, फिल्म की समीक्षा, उसका महत्व तथा फिल्म को प्राप्त पुरस्कारों एवं सम्मानों पर प्रकाश ड़ाला गया है।

पंचम अध्याय ''शोले' फिल्म की रस-योजना' शीर्षक से है। प्रथम चार अध्याय जहां परिचयात्मक अध्याय हैं, यह अंतिम अध्याय इस शोधप्रबंध का मुख्य अध्याय है। इस अध्याय को छह उपाध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम दो उपाध्यायों में सिनेमा के सौंदर्यशास्त्र एवं 'शोले' फिल्म के संधि-विवेचन पर प्रकाश ड़ाला गया है। इसके उपरांत क्रमशः फिल्म के अंगीरस, अंगभूत रस, फिल्म में विरोधी रसों का एक साथ चित्रण, फिल्म के रसदोष एवं रसाभास तथा फिल्म में रसों के प्रस्तुतीकरण जैसे विषयों पर भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धांत को आधार बनाकर विचार करते हुए मैंने अपने शोध-निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

इस विषय को लेकर कार्य करने की इच्छा भले ही मेरे मन में बहुत पहले से ही थी मगर यह शोधकार्य मेरे शोध-निर्देशक श्रद्धेय गुरुवर प्रो. आलोक पाण्डे सर के सहयोग व मार्गदर्शन के बिना सफल नहीं हो पाता। उनको मैं हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। इस शोधकार्य के संपन्न होने में मुझे जितना सहयोग व मार्गदर्शन अपने शोध-निर्देशक प्रो. आलोक पाण्डे सर का प्राप्त हुआ उतना ही सहयोग व मार्गदर्शन अपने सह शोध-निर्देशक आदरणीय प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी सर का भी प्राप्त हुआ है जिनकी प्रेरणा तथा अमूल्य सुझावों के बिना भी इस शोधकार्य का संपन्न हो पाना संभव नहीं था। उनके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग की प्राध्यापिका श्रद्धेय डॉ़ कविता चौहान मैडम से प्राप्त ज्ञान व मार्गदर्शन का भी इस शोधकार्य में कुशल योगदान रहा जिसने इस कार्य को सुगम बनाया। इनका आभार व्यक्त न करना मेरी कृतघ्नता होगी। इसी विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अग्रज ब्रिजेश कुमार मिश्र का भी इस क्रम में अत्यंत मूल्यवान सहयोग रहा है जिनका मैं हृदय-पूर्वक आभार व्यक्त करती हूँ।

मैं अपने माता-पिता, बडी़ बहन तथा परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे धैर्य प्रदान किया, हमेशा मेरी हिम्मत बढ़ायी तथा मुझे इस काबिल बनाया कि मैं आज उच्च शिक्षा के इस स्तर तक पहुंच पायी हूँ। अंत में मैं अपने उन सभी मित्रों को भी विशेष धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जिनकी सहायता व प्रेरणा हर कदम पर मेरे साथ थी।

******

बी. वी. एन् . उमा गायत्री

प्रथम अध्याय

भरत मुनि और उनका 'नाट्यशास्त्र' : परिचय एवं महत्व

1.1. 'नाट्यशास्त्र' की उत्पत्ति

1.2. 'नाट्यशास्त्र' का परिचय

1.3. 'नाट्यशास्त्र' का स्वरूप

1.4. 'नाट्यशास्त्र' का रचना-काल

1.5. 'नाट्यशास्त्र' की रचना-शैली

1.6. 'नाट्यशास्त्र' के रचनाकार - भरत मुनि का परिचय

1.7. 'नाट्यशास्त्र' का महत्व

1.1). 'नाट्यशास्त्र' की उत्पत्ति:-

'नाट्यशास्त्र' की उत्पत्ति की कथा का आचर्य भरत मुनि ने स्वयं अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है। वें कहते हैं कि ब्रह्मा जी ने देवताओं की इछा के अनुसार नाट्य को पंचम वेद के रूप में तैयार किया है। इस संदर्भ में उनका यह श्लोक दृष्टव्य है-

"जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदाद्भिनयान् रसानाथर्वणादपि॥"[1]

अर्थात ब्रह्मा जी ने ऋगवेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस को लेकर नाट्य नामक पंचम वेद की रचना की।

दरअसल 'नाट्यशास्त्र' की उत्पत्ति की कथा ये कहती है कि एक बार सभी देवताओं ने ब्रह्मा जी से निवेदन किया कि हम एक ऐसा मनोरंजन साधन चाहते हैं जिसे देखा भी जा सके और सुना भी जा सके। इसलिए आप कृपया एक ऐसे पंचम वेद की रचना करें जो सभी वर्णों के लिए हो। तब ब्रह्मा जी ने देवताओं के निवेदन पर ‘नाट्य’ नामक पंचम वेद की रचना की। इस श्लोक और कथा से पता चलता है कि 'नाट्यशास्त्र' मात्र कलाओं का विश्वकोश ही नहीं अपितु उसकी विषय-वस्तु कितनी उदार है। यह कोई सामन्य ग्रंथ नहीं है यह भारतीय मेधा और ज्ञान संपदा का ध्योतक है। इसकी श्रेष्ठता इसी बात में झलकती है कि इसकी रचना चारों वेदों (ऋगवेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद्) के सार को लेकर पांचवे वेद के रूप में हुई जिसके अध्ययन का सभी वर्णों के लोगों को अधिकार प्राप्त था। यह बात इसलिए महत्वपूर्ण है क्यों कि प्राचीन भारत में समाज में वर्ण व्यवस्था मज़बूत जड़ों के साथ विद्यमान थी। समाज चार वर्णों में बंटा हुआ था- ब्राहमण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र और वेदों के अध्ययन का अधिकार केवल ब्राहमणों को ही था। ऐसे समय में चारों वर्णों के लिए पंचम वेद की रचना करना अपने आप में ही इस ग्रंथ की उदारता को दर्शाती है। कलाओं के क्षेत्र में तो इस ग्रंथ का अध्ययन होता ही है साथ ही ये सामान्य जन के लिए भी उपयुक्त ग्रंथ है। इससे यह साफ होता है कि 'नाट्यशास्त्र' को मनुष्य को अपने जीवन के तीनों लक्ष्य- धर्म, अर्थ, काम की विधिवत पूर्ति के पश्चात परम लक्ष्य मोक्ष तक ले जाने के वैज्ञानिक ग्रंथ का दर्जा क्यों प्राप्त है।

[1] . ‘नाट्यशास्त्र’, संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम अध्य्य पृष्ठ 6, श्लोक 17

1.2). 'नाट्यशास्त्र' का परिचय-:-

भारत देश पूरे विश्व में अपना एक विशिष्ट स्थान इसलिए रखता है कि वह सदा से हर प्रकार की ललित कलाओं का धनी रहा है। भारत की इसी कलात्मक संपदा का प्राचीनतम प्रतिनिधि ग्रंथ है 'नाट्यशास्त्र' और आचार्य भरत मुनि इसके रचनाकार मने जाते हैं। इसमें कला के उत्कृष्टतम रूप - नाट्य के साथ-साथ उसके आनुषंगिक विषयों के रूप में अनेक ललित कलाओं जैसे- काव्य, नृत्य, संगीत, वादन, चित्रकला, वास्तुकला आदि पर विस्तार से विवरण है। इसमें नाटक से संबंधित पात्रों से लेकर, रस, अभिनय कला, नाट्य के देवता, उनकी उपासना, नृत्य, संगीत, नाटक घर का निर्माण, उसमें प्रेक्षकों के बैठने के स्थान आदि तक हर एक चीज़ का सविस्तार विवरण है। 'नाट्यशास्त्र' भारत की समस्त कला चेतना को अपने अंदर समाए हुआ है। इस ग्रंथ की विषय-व्यापकता एवं विवरण की सूक्ष्मता के कारण यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण कदाचित नहीं होगा कि 'नाट्यशास्त्र' के रूप में आचर्य भरत मुनि ने ललित कलाओं का पारंपरिक विश्वकोश तैयार किया है।

कलाओं के क्षेत्र में 'नाट्यशास्त्र' का अपूर्व स्थान है ही मगर कलात्मक कोश होने के साथ-साथ यह एक अत्यंत ज्ञान संपन्न, वैज्ञानिक ग्रंथ भी है जिसमें भारतीय मेधा और चिंतन परंपरा के दर्शन होते हैं। नाट्य की उत्पत्ति की कथा से ही हमें इसकी श्रेष्ठता का पता चल जाता है। इसलिए इसे पंचम वेद भी कहा जाता है। आचार्य भरत मुनि ने स्वयं इस संदर्भ में अपने ग्रंथ के प्रथम अध्याय में लिखा है कि-

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

नासौ योगे न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन यन्न दृश्यते ॥"[2]

अर्थात इस श्लोक में वें कह रहे हैं कि न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या है, न कला है, न योग है और न ही कोई कर्म ऐसा है जो इस नाट्य में न देखा जाता हो।

इससे हम यह निस्संदेह रूप से कह सकते हैं कि 'नाट्यशास्त्र' भारत की ही नहीं पूरे विश्व की एक अमूल्य और अक्षय संपदा है जो आचार्य भरत मुनि का हम पर ऋण है। इस अमूल्य ग्रंथ का परिचय देते हुए अब इसके अध्यायों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जायेगा-

'नाट्यशास्त्र' के अध्यायों का विषय संक्षेप-

2. 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम अध्याय पृष्ट 28, श्लोक 117

यहाँ चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित 'नाट्यशास्त्र' के पाठ को आधार बनाकर 'नाट्यशास्त्र' के 36 अध्यायों की विषय-वस्तु का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है-

'नाट्योत्पत्ति' नामक प्रथम अध्याय में आत्रेय आदि ऋषियों द्वारा नाट्यवेद की उत्पत्ति, उसके अंग-उपांग तथा उसके प्रयोग आदि से संबंधित जिज्ञासाओं को भरत मुनि के सम्मुख रखने और भरत मुनि का इसके उत्तर में ब्रह्मा जी द्वारा इस नाट्यवेद का प्रणयन करने और उसका अपने द्वारा अपने 100 पुत्रों को सिखाने का आख्यान है।

द्वितीय अध्याय 'प्रेक्षागृहलक्षण' नाम से है। इसमें आचार्य भरत मुनि ने नाट्य प्रदर्शन के लिए आवश्यक होने के कारण प्रेक्षागृह का वर्णन करते हुए उसके तीन प्रकारों को बताया तथा उसके शिल्प, आकार तथा साधनों का विस्तार से विवेचन किया है।

'रंगदैवतपूजनविधि' नामक तृतीय अध्याय में नाट्यमण्डप में संपादित की जाने वाली आवश्यक धार्मिक क्रियाओं का निरूपण करते हुए विभिन्न देवताओं की पूजा तथा उससे प्राप्त फलों के बारे में बताया गया है।

चतुर्थ अधाय 'ताण्डवलक्षण' नाम से है। इसमें भरत मुनि द्वारा देवताओं के सम्मुख 'अमृतमंथन' नाट्यप्रयोग करने, 'त्रिपुर्दाह' को महेश्वर के सम्मुख प्रस्तुत करने तथा महेश्वर के आदेश से तण्डु द्वारा भरत को अंगहार, करण तथा रेचकों का ज्ञान कराने का वर्णन है। इसी अध्याय में ताण्डुनृत्य की उत्पत्ति और उसके शिल्प का सांगोपांग विवेचन है।

पंचम अध्याय का नाम 'पूर्वरंगविधान' है। अपने नाम के अनुसार इसमें नाट्यप्रदर्शन के आरंभ में प्रस्तुत किये जाने वाले पूर्वरंगविधान, नांदी, प्रस्तावना तथा धृवाओं का सांगोपांग विवेचन है।

षष्टम अध्याय 'रसाध्याय' है। ये इस ग्रंथ का सर्वाधिक चर्चित अध्याय है। इसमें ऋषियों द्वारा रस विषयक प्रश्न पूछे जाने पर रसों के नामकरण का आधार, रस-निश्पत्ति, नाट्यसंग्रह के विवरण के साथ रस का विवरण, रसों और उनके स्थायी भावों का संबंध और अन्य भावों से संबंध तथा रसों के अधिदेवता आदि का विस्तृत विवरण दिया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र के रस सिधांत का आधार यही अध्याय है।

सप्तम अध्याय 'भावाध्याय' है। इसमें रसावयव- भाव, विभाव, स्थायी भाव, संचारी भाव या व्यभिचारी भाव का विस्तृत विवेचन है।

अष्टमाध्याय ‘उपांगविधान’ है। इस अध्याय से अभिनय का वर्णन शुरू होता है। इसमें अभिनय के आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक भेद बताये और आंगिक अभिनय के अंतर्गत उपांगाभिनय आदि का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

‘हस्ताभिनय’ नामक नवमाध्याय में आंगिक अभिनय के क्रम को आगे बढ़ाते हुए 24 असंयुत हस्त मुद्राओं, 13 संयुत हस्त मुद्राओं, 27 प्रकार के नृत्त हस्तों का वर्णन करते हुए पूरे 64 हस्त मुद्राओं को बताया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि अभिनय और नृत्य में इन हस्त मुद्राओं का रस-भाव के अनुरूप प्रयोग होता है और ये बहुत उपयोगी भी होते हैं।

‘शरीराभिनय’ नामक दशमाध्याय में वक्ष, कटि तथा शरीर के अन्य भागों के परिचालनजन्य पांच प्रकारों का विवरण देकर उनके विभिन्न अवसरों पर किये जाने वाले अभिनय प्रयोग बताये गये हैं।

एकादशाध्याय ‘चारीविधान’ नाम से है। इसमें 16 प्रकार के भौमिक तथा 16 प्रकर के आकाशिकी चारियों के लक्षणों तथा प्रयोगों को बताया गया है एवं खण्ड-करण तथा मंडलों की नाट्योपयोगिता का वर्णन किया गया है।

द्वादशाध्याय ‘मंडलप्रचार’ नाम से है। इसमें मंडलों के लक्षण, संख्या तथा प्रयोग आदि का निरूपण है।

‘गतिप्रचार’ नामक त्रयोदशाध्याय में रसों तथा पात्रों के स्वभाव के अनुकूल मंच पर पात्रों के संचालन एवं उनकी गतियों का वर्णन किया गया है।

चतुर्दशाध्याय ‘कद्यापरिधि तथा लोकधर्मी निरूपण’ नाम से है। इसमें रंगमंच पर विद्यमान गृह, उपवन, वन, जल, स्थल आदि प्रदेशों को संकेतित करने के निश्चय, समय के अंगानुसारी विभाजन तथा एक वर्ष या एक मास में घटित घटनाओं के लिए नये अंक की योजना, देश, वेशभूषा आदि पर निर्भर चार प्रकार की प्रवृत्तियों का निरूपण, सुकुमार तथा आविद्ध नामक दो प्रकार के नाट्य प्रयोगों का वर्णन एवं अंत में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी नामक दो नाट्यविधाओं का निरूपण प्रस्तुत करता है।

पंचदशाध्याय से वाचिकाभिनय से संबंधित वर्णन प्रारंभ होता है। इसका नाम ‘वाचिकाभिनय तथा छंद’ है। इसमें वाचिकाभिनय के विवरण के साथ-साथ गुरु, लघु, यति, मात्रा आदि छंदशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों की व्यख्या भी की गयी है।

‘छंदोविचिति’ नामक षोडषाध्याय भी इसी क्रम में आगे बढ़ता है। इसमें वाचिकाभिनय में उपयोगी वृत्तों का सोदाहरण निरूपण है।

‘काव्यलक्षणालंकारादि’ नामक सप्तदशाध्याय में अभिनय के अंतर्गत काव्य के छत्तीस लक्षणों का वर्णन है। इसके उपरांत उपमा, रूपक, दीपक, यमक नामक काव्य के अलंकारों का विवरण प्रस्तुत करते हुए काव्य के गुणों तथा दोषों का भी निरूपण किया गया है।

अष्टादशाध्याय ‘भाषाविधान’ है। इसमें नाटकोपयोगी भाषाओं का विवरण प्रस्तुत है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश या देशी भाषा के शब्द रूपों के उच्चारण भेदों द्वारा होने वाले परिवर्तनों का विवरण देकर भाषाओं और विभाषाओं का वर्णन किता गया है।

एकोनविश (उन्नीसवाँ) अध्याय ‘संबोधन तथा काकुस्वरव्यंजन विधान’ नाम से है। इसमें विभिन्न प्रकार के पात्रों को संबोधित करने की विविध प्रणालियों का विवरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त पात्रों के नामकरण के उपाय बताये गये हैं। इसके उपरांत स्वर व व्यंजन के उच्चारण स्थान, विविध प्रकार आदि का विवरण दिया गया है।

विंशोध्याय या बीसवाँ अध्याय ‘दषरूपकनिरूपण’ है। इसमें विभिन्न प्रकार के रूपकों के बारे में बताया गया है। इस संदर्भ में दस प्रकार के रूपकों का उल्लेख है और उनके संघटक अंगों की चर्चा भी की गयी है।

एकविंशोध्याय अथवा इक्कीसवें अध्याय में संधियों के सभी अंगों के लक्षण बताये गये हैं। इसी कारण इसका नामकरण ‘संध्यांगनिरूपण’ किया गया है।

‘वृत्तिविधान’ नामक द्वाविंश अध्याय (बांईसवाँ अध्याय) भारती, सात्वती, कैशिकी एवं आर्भाटी नामक चार वृत्तियों का निरूपण करता है। इन वृत्तियों की उत्पत्ति, भेद व लक्षण बताते हुए विभिन्न रसों में इनकी योजना का विवरण दिया गया है।

त्रयोविंश अध्याय या तेईसवें अध्याय से आहार्याभिनय का वर्णन शुरु होता है और इसी के अनुरूप इसका नाम ‘आहार्याभिनय’ रखा गया है। आहार्याभिनय नेपथ्य व वेशभूषा पर अवलंबित होता है। इसलिए विभिन्न देशों के निवासी स्त्री-पुरुषों की, वेशभूषा, अलंकारों अदि का विवरण दिया गया है और नेपथ्य के चार प्रकारों का भी वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

‘सामान्याभिनय’ नामक चतुर्विंश अध्याय अथवा चौबीसवें अध्याय में नाम के अनुरूप सामान्य अभिनय का निरूपण है। इसमें उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के पात्रों का वर्णन किया गया है।

पंचविंशोध्याय अथवा पच्चीसवाँ अध्याय ‘वैशिकोपचार’ नाम से है। इसमें वैशिक पुरुष के लक्षण बताये गये हैं और उसके सहज गुणों व संपादित गुणों का विस्तार से निरूपण किया गया है। इसके मित्र

तथा दूती का भी सांगोपांग विवरण देकर स्त्रियों के यौवन को चार अवस्थाओं में बांटा गया, प्रेमियों के प्रकारों को भी बताया और स्त्रियों को वश में करने के उपायों का विधिवत निरूपण किया गया है।

छब्बीसवाँ अथवा षडविंश अध्याय 'चित्राभिनय' है। इसमें सामान्य अभिनय के अंतर्गत जिन आंगिक आदि अभिनयों का वर्णन छूट गया था ऐसे विशिष्ट अभिनयों का वर्णन दिया गया है।

सत्ताईसवाँ अथवा सप्तविंश अध्याय 'नाट्यसिद्धिनिरूपण' है। इसमें नाट्य प्रदर्शन में होने वाली दैवीय तथा मानुषी सिद्धि का सांगोपांग निरूपण करते हुए उनमें होने वाले विघ्नों का विवरण दिया गया है। इसी प्रसंग में नाटक प्रदर्शन के निर्णायकों या परीक्षकों की विभिन्न श्रेणियों तथा उनकी योग्यता का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अट्ठाईसवें अध्याय से चौतीसवें अध्याय तक संगीत शास्त्र का विष्य प्रतिपादित किया गया है। यह अष्टविंश अध्याय 'आतोद्यविधान' है जिसमें चार प्रकार के वाद्यों और सात प्रकार के स्वरों का विवरण है।

एकोनत्रिंशोध्याय अथवा उनतीसवाँ अध्याय जातियों के रसाश्रित प्रयोग का विवरण प्रस्तुत करता है। वर्णों तथा अलंकारों के स्थायी आदि वर्णों पर आश्रित स्वरूप बताये गये हैं और वीणाओं के स्वरूप आदि पर चर्चा की गयी है। इस अध्याय का नामकरण ''तातोद्यविधान' किया गया है।

तीसवाँ अथव्का त्रिंश अध्याय 'सुषिराअतोद्यविधान' नाम से है। इसके अंतर्गत बाँसुरी के स्वरूप का विवेचन किया गया है। इसमें बाँसुरी के वादन विधि के बारे में बताया गया है।

एकत्रिंशोध्याय अथवा इकतीसवें अध्याय का नाम 'तालविधान' है। इसमें ताल और लय का विस्तृत विवरण देते हुए आवंद्ध्ववाद्यों का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त गीत के समय-नियमन हेतु ताल विधान को विस्तार से निरूपित करते हुए कुछ गौण नाट्य प्रयोगों का सलक्षण विवरण दिया गया है।

द्वात्रिंश अध्याय अथवा बत्तीसवाँ अध्याय 'धृवविधान' नाम से है। इसमें धृवाओं का विवरण है और इन धृवाओं के सोदाहरण लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही गायक, वादक, संगीत के आचार्य व शिष्य के गुणोँ एवं उनकी योग्यताओं का भी निरूपण किया गया है।

'आवंद्ध्वातोद्यत्रिधानाध्याय' नामक त्रयत्रिंशोध्याय अथवा तैंतीसवाँ अध्याय मृदंग आदि आवन्द्धवाद्यों का विवेचन करता है। इसमें इन वाद्यों के निर्माण तथा वादन आदि का विवरण है और इनके अधिदेवताओं का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है।

चौंतीसवाँ अथवा चतुर्त्रिंश अध्याय 'प्रकृति त्रिचाराध्याय' नाम से है। इसमें पुरुषों व स्त्रियों की त्रिविध प्रकृति का निरूपण करने के साथ-साथ चार प्रकार के नायकों का सलक्षण विवरण दिया गया है।

पंचत्रिंश या पैंतीसवें अध्याय का नाम 'भूमिका-सामान्य सिधांत' है। इसमें नाट्य मंडली के सदस्यों को उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं और पात्रों के स्वरूप के अनुरूप विभाजित करने के विषय में नियम प्रस्तुत किये गये हैं।

षट्त्रिंश अथवा छत्तीसवाँ अध्याय 'नाट्यावतार' नाम से है। इसमें ऋषियों द्वारा आचार्य भरत मुनि से नाट्य का पृथवी पर अवतरित होने के विषय में पुनह जिज्ञासा प्रस्तुत करने और इसके उत्तर में भरत मुनि द्वारा दो आख्यानों के वर्णन की कथा है। पहला भरतपुत्रों द्वारा उपहासकारी नाट्य प्रदर्शन देखकर उनसे रुष्ट ऋषियों द्वारा उनके श्रापित होने का आख्यान है और दूसरा आख्यान राजा नहुष की प्रार्थना पर स्वर्गस्थ नाट्य का भूतल पर अवतरित होने की कथा कहता है।

यहाँ ध्यान देने वाली बात ये है कि 'नाट्यशास्त्र' के जिन संस्करणों में 37 अध्याय हैं उनमें 36वें अध्याय के द्वितीय आख्यान (राजा नहुष की प्रार्थना का) की कथा को 37वें अध्याय के अंतर्गत रखा गया है। इस संदर्भ में डा ब्रज वल्लभ मिश्र लिखते हैं कि-

"इसके सैंतीस अध्यायों में भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम इतिहास के रहस्य छिपे हुए हैं। वैदिक काल से पहले की सभ्यता और कला के रूप की कालिंदी बह रही है, भारतीय धर्म और दर्शन की कहानी सजी हुई है और आदिम सभ्यता से आज तक के मानव सभ्यता के विकास की यात्रा के विभिन्न सोपान दिखायी देते हैं।" [3]

इस उद्धरण और उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि यह ग्रंथ कितना व्यापक एवं उदार है। इस ग्रंथ के उपरांत नाट्य विषय पर कई ग्रंथ लिखे गये मगर इस ग्रंथ के अध्ययन के पश्चात ये ज्ञात होता है कि इनमें से कोई भी ग्रंथ इस ग्रंथ के सामने मात्र न्यून प्रयत्न बनकर क्यों रह जाता है। कला और साहित्य का कोई भी अंग इससे अछूता न रहा। विश्व भर में कला का इतना सूक्ष्म व व्यापक विवेचन करने वाला ये एकमात्र ग्रंथ है।

[3] . 'भरत और उनका नाट्यशास्त्र', डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलहाबाद, पृष्ट 9

1.3) 'नाट्यशास्त्र' का स्वरूप:-

'नाट्यशास्त्र' भारतीय सांस्कृतिक सभ्यता का प्राचीनतम ग्रंथ है जिसके रचनाकार आचार्य भरत मुनि को माना जाता है। आचार्य भरत मुनि के समय को लेकर ठीक-ठीक जानकारी उपलब्ध नहीं है मगर उनका समय ई.पू. चौथी शताब्दी से लेकर पहली शताब्दी ई. के बीच माना जाता है। उन्होंने इस ग्रंथ में नाट्यशास्त्र (नाटक, गीत-संगीत, नृत्य, अभिनय, चित्रकला, वास्तुकला आदि), काव्यशास्त्र (रस, अलंकार, छंद, रीति, गुण, दोष, भाव, काव्य के लक्षण व प्रयोजन आदि) और सौंदर्यशास्त्र के कई अंगों को विषय बनाकर एक सर्वकलाओं का कोश तैयार किया है जो 6000 श्लोकों का आयाम रखता है। इसलिए इसे 'षट्साहस्त्री संहिता' भी कहा जाता है। मगर कहीं-कहीं इसके लिए 'द्वादश्साहस्त्री संहिता' की संज्ञा का भी प्रयोग दिखता है।

'नाट्यशास्त्र' के पाठ को लेकर विद्वानों में मतभेद है। इस संदर्भ में डॉ. शारदा तनय ने अपने ग्रंथ 'भाव प्रकाश' में ये बताया है कि भरत से पहले वृद्ध भरत थे जिन्होंने 12000 श्लोकों का 'नाट्यवेदांगम्' नामक ग्रंथ लिखा जिसे बाद में संक्षिप्त कर आचार्य भरत मुनि ने 6000 श्लोकों में 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। इस प्रकार शारदा तनय और उनके उत्तरवर्ती अनेक शास्त्रकारों ने 'नाट्यशास्त्र' के 'द्वादशसाहस्त्री' और 'षट्साहस्त्री' दो पाठों का उल्लेख किया है। कुछ अन्य विद्वानों का मत इससे भिन्न है। उनका मानना है कि नाट्य का 'षट्साहस्त्री' पाठ ही प्राचीन पाठ है जिसमें बाद में प्रक्षेपों तथा विषय-विस्तारों को जोड़कर 'द्वादशसाहस्त्री संहिता' का निर्माण हुआ है। 'नाट्यशास्त्र' के पाठ को लेकर जो विवाद है वो आज का नहीं है। 'नाट्यशास्त्र' के संस्कृत टीकाकारों के समय में भी ये दोनों परंपराएं विद्यमान थीं। टीकाकारों ने अपने अनुरूप अपनी टीकाओं का आधार पाठ चुना। उदाहरण स्वरूप धनंजय ने अपनी रचना 'दशरूपक' का आधार जहाँ 'षट्साहस्त्री' को बनाया वहीं भोजराज ने 'द्वादशसाहस्त्री' को आधार चुना। मगर 'नाट्यशास्त्र' की अब तक की सब्से अधिक मान्य टीका 'अभिनव भारती' के लिए रचनाकार अभिनव गुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' के 'षट्साहस्त्री' पाठ को ही आधार बनाया है। इसके उपरांत उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों द्वारा इसी पाठ को निस्संदिग्ध रूप से टीकाओं आदि का आधार बनाया गया।

'नाट्यशास्त्र' के मूल पाठ की प्रतियाँ जो आज हमारे सामने उपलब्ध हैं वे कई विद्वानों के काफी श्रम का फल है। वरना कई वर्षों तक इसका मूल पाठ अनुपलब्ध ही रहा इस संदर्भ में डॉ. निशा अग्रवाल लिखती हैं-

"यह ग्रंथ अनेक शताब्दियों तक अंधकार के गर्त में समाया रहा। संस्कृत नाटकों मे तो इस ग्रंथ का उल्लेख बहुत पहले से ही मिलने लगता है लेकिन इसकी एक भी प्रति कहीं से भी उपलब्ध न होने के कारण सन 1825 तक ऐसा विश्वास हो चला था कि यह रचना सदा के लिए लुप्त हो गई। अंततः कतिपय जर्मन, फ्रांसीसी एवं संस्कृत विद्वानों के कठिन परिश्रम से यह ग्रंथ प्रकाश में आया और इसके कई संपादित संस्करण निकले।"[4]

अनेक विद्वानों के अद्वितीय श्रम और खोज के बाद आज हमारे सम्मुख इसकी प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इसमें स्वर्गीय एम् रामकृष्ण कवि का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। आज देश में 'नाट्यशास्त्र' की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनको देखकर ये पता चलता है कि देश में 'नाट्यशास्त्र' के मूल पाठ के दो रूप प्रचलन में हैं। कहीं ये 36 अध्यायों का दिखायी देता है तो कहीं 37 अध्यायों का दिखायी देता है। निर्णय सागर प्रेस, मुंबई से काव्य माला श्रृंखला के अंतर्गत प्रकाशित 'नाट्यशास्त्र' में और प्राच्य विद्या संस्थान, बड़ौदा से एम् रामकृष्ण कवि द्वारा संपादित 'नाट्यशास्त्र' में जहाँ 37 अध्याय हैं तो वहीं चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित 'नाट्यशास्त्र' का मूल पाठ 36 अध्यायों का है। 'नाट्यशास्त्र' के अध्यायों की संख्या का ये द्वंद्व भी आज का नहीं है अपितु काफी पुराना है। ये दोनों परंपराएं 12वी शताब्दी में नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनव गुप्त के सामने भी थी। इसका प्रमाण ये है कि उन्होंने अपनी 'नाट्यशास्त्र' की टीका 'अभिनव भारती' के मंगलाचरण में तो ये लिखा है कि मैं भरत मुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' के 36 अध्यायों की व्याख्या लिख रहा हूँ किंतु अंत में लिखते हैं कि 37वें अध्याय की समाप्ति यहाँ करता हूँ।

इसलिए ये तय करना अत्यंत कठिन है कि इन पाठों में कौनसा पाठ सही है। वास्तव में अध्यायों का ये द्वंद्व मात्र संपादन की भिन्नता व विषय-वस्तु का अध्यायों में वर्गीकरण करने की शैली की भिनाता के काराण है, वर्णीत विषय में कोई भेद नहीं है। इसलिए 36 और 37 अध्याय वाले दोनों पाठ मान्य हैं मगर एम् रामकृष्ण कवि द्वारा बड़ौदा से निकले संस्करण को सबसे श्रेष्ठ और प्रामाणिक माना जाता है क्यों कि उन्होंने इसकी देशभर में फैली पांडुलिपियों को एकत्रित कर 'अभिनव भारती' को आधार बनाकर 55 वर्ष का कठोर परिश्रम कर इस पाठ को तैयार किया है। मैंने अपने इस लघु शोधकार्य के लिए अपनी उपलब्धि की सीमाओं के कारण चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित पाठ को आधार बनाया है

[4] . 'भारतीय काव्यशास्त्र'- डॉ. निशा अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलहाबाद, द्वितीय खंड, पृष्ठ 11

1.4). 'नाट्यशास्त्र' का रचना-काल:-

'नाट्यशास्त्र' के रचनाकार भरत मुनि के व्यक्तित्व और समय को लेकर जिस प्रकार विद्वानों में अनेक मत प्रचलित हैं उसी प्रकार 'नाट्यशास्त्र' के रचना काल को लेकर भी कई भिन्न-भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। 'नाट्यशास्त्र' का समय निर्धारित करने का सर्वप्रथम कार्य P. Regnand और J. Grosset ने किया और इसके काव्यशास्त्रीय और छंदशास्त्रीय स्वरूप को देखकर इसे कम से कम ई.पू. के एक शताब्दी पूर्व का निर्धारित किया है। कुछ अन्य विद्वानों ने इसकी भाषा और शब्दावली को ध्यान में रखकर इसका समय दूसरी शताब्दी ई.पू. और तीसरी शताब्दी ई.पू. भी माना है। समस्त 'नाट्यशास्त्र' के संपादक तथा अनुवादक डॉ. श्री मनमोहन घोश और एम् रामकृषण कवि ने इसे पांचवी शताब्दी ई.पू. का बताया है। मगर कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि 'नाट्यशास्त्र' इससे भी काफी प्राचीन रचना है। 'भरत और उनका नाट्यशास्त्र' नामक ग्रंथ में लेखक डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र लिखते हैं कि-

"लगता है रचना काल का यह निर्धारण नाट्यशास्त्र को नहीं उसकी पांडुलिपियों को देख कर किया गया है जबकि पांडुलिपियों के अनेक रूप हैं। वे अलग-अलग समय में लिखी गई हैं। नाट्यशास्त्र का रचना काल समझने के लिए उसमें छिपे रहस्यों को समझना आवश्यक है।"[5]

उनके मतानुसार 'नाट्यशास्त्र' उस समय की रचना है जब समाज में 'संगीत' शब्द प्रचलन में नहीं आया था और जब समाज में 'व्यभिचारी' शब्द का दुराचारी के अर्थ में प्रयोग नहीं होता था क्यों कि ऐसा होता तो भरत मुनि भावों के लिए व्यभिचारी शब्द का प्रयोग कदाचित नहीं करते। इसके आगे वें यह भी कहते हैं कि 'नाट्यशास्त्र' रामायण और महाभारत से भी प्राचीन ग्रंथ है और इसके समर्थन में उनका कथन है कि-

"महाभारत और रामायण में नाट्यशास्त्र की शब्दावली बहुत मात्रा में मिलती है। इसके विपरीत नाट्यशास्त्र में राम तथा कृष्ण कालीन किसी भी पात्र के नाम देखने को नहीं मिलते।"[6]

[5] . 'भरत और उनका नाट्यशास्त्र', डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलहाबाद, पृष्ठ 57

[6] . 'भरत और उनका नाट्यशास्त्र', डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलहाबाद, पृष्ठ 57

1.5). 'नाट्यशास्त्र' की रचना-शैली:-

'नाट्यशास्त्र' की लेखन शैली में बहुत विविधता दिखाई देती है। ये गद्य-पद्यात्मक है। इनके अंतर्गत भी शैली वैविध्य परिलक्षित होती है। पद्य में आरंभ के पांच अध्यायों और अंतिम अध्याय में (36 अध्यायों वाले पाठ में) अथवा अंतिम दो अध्यायों में (37 अध्यायों वाले पाठ में) मूल रूप से अनुष्टुप छंद का प्रयोग हुआ है और बाकी अध्यायों में छंदों की विविधतता दिखती है। गद्य में भी सूत्र, कारिका और निरूक्त शैलियाँ दिखती हैं। इस संदर्भ में डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र कहते हैं कि-

"लगता है इस ग्रंथ की रचना तीन चरणों में हुई है। प्रथम चरण में इसका गद्य भाग लिखा गया है। कहीं-कहीं गद्य इतने लंबे हैं कि उनका काव्य में परिवर्तन करना शायद किसी भी व्यक्ति को किसी भी काल में संभव नहीं हो सका। अतः गद्य के वो लंबे टुकड़े प्रारंभ से अब तक वैसे ही रहे हैं। दूसरे चरण में नाट्यशास्त्र का नाट्य संबंधी गद्य और पद्य मिश्रित उल्लेख और तीसरे चरण में ग्रंथ के प्रारंभ के पांच अध्यायों और अंत के दो अध्यायों की विषय-वस्तु लिखी गई।"[7]

विषय के आधार पर भी 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम पांच अध्यायों और अंत का एक अध्याय (36 अध्यायों वाले संस्करण में) या दो अध्यायों (37 अध्यायों वाले संस्करण में) की लेखन शैली अलग तरह की है। इन अध्यायों में ग्रंथ का धार्मिक दृष्टि से महत्व स्थापित किया गया है। इसके अलावा ग्रंथ में जितनी भी विषय-वस्तु है वह पूर्णतः कला और काव्य के तकनीकी पक्ष को दर्शाती है। इस संदर्भ में डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र लिखते हैं कि-

"यों देखने में लगता है कि नाट्यशास्त्र भारत के प्राचीन धर्म-ग्रंथों की तरह एक कथा सुनाने वाला ग्रंथ है किंतु उसका प्रारंभिक कथा वाला भाग उसमें जोडा़ गया क्षेपक है। उस भाग के कारण ही ग्रंथ के 'विधि' और 'शास्त्र' दो भाग हो जाते हैं। विधि भाग पूर्णतः धार्मिक क्रियाओं के कठोर निर्देश प्रस्तुत करता है। इन क्रियाओं में वह प्रयोगकर्ता को स्वेच्छा से काम करने की किंचित भी अनुमति नहीं देता साथ ही यह चेतावनी देता है कि इनकी उपेक्षा करने से हानि होगी। छठवे अध्याय से शास्त्र प्रारंभ होता है। इसके बाद शास्त्रकार प्रयोगकर्ताओं को स्थान-स्थान पर छूट देने लगता है कि इतना मैंने बता दिया, देश- काल को देखते हुए प्रयोगकर्ता इसमें आगे जोड़ लें। "[8]

इस विविधता का कारण यही समझ में आता है कि शायद इस ग्रंथ की रचना एक ही व्यक्ति ने एक ही काल में नहीं की होगी जो कुछ विद्वानों का मानना भी है।

---

7 . 'भरत और उनका नाट्यशास्त्र', डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलहाबाद, पृष्ठ 56

8 . 'भरत और उनका नाट्यशास्त्र', डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलहाबाद, पृष्ठ 36

1.6) 'नाट्यशास्त्र' के रचनाकार - भारत मुनि का परिचय:-

आचार्य भरत मुनि भारत के प्राचीनतम कलाओं के विश्व कोश 'नाट्यशास्त्र' के रचनाकार के रूप में प्रख्यात हैं जिनका समय विद्वानों के अनुसार चौथी शताब्दी ई.पू से पहली शताब्दी ई. के बीच का माना गया है। आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने 'नाट्यशास्त्र' की टीका में लिखा है कि 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता क्रमशः शिव, ब्रह्मा और भरत मुनि हैं। 'नाट्यशास्त्र' को लेकर जो मुद्दा सबसे अधिक चर्चा में रहा है और जिस पर सबसे अधिक विवाद है वो है 'नाट्यशास्त्र' के रचनाकार भरत का व्यक्तित्व। दरअसल 'नाट्यशास्त्र' में 'भरत' शब्द का प्रयोग अभिनेता, सूत्रधार आदि के लिए भी कई जगहों पर हुआ है। इस कारण परवर्ती आचार्यों व विद्वानों में अनेक भरतों के होने की आशंका उपन्न हुई और यह मान्यता प्रचलित हुई कि भरत मुनि का व्यक्तित्व दरअसल भरतों की एक परंपरा है। मगर 'नाट्यशास्त्र' के रचनाकार को एक व्यक्ति- भरत मुनि को मानने वाले विद्वान भी हैं। इसके समर्थन में बाबुलाल शुक्ल शास्त्री जी ने अपने द्वारा संपादित 'नाट्यशास्त्र' की प्रस्तावना में लिखा है कि-

"इससे इस बात का संकेत अवश्य मिलता है कि 'नाट्यशास्त्र' के अनुशीलन के कारण नाट्याचार्यो तथा भरतों की एक अक्षुण्ण परंपरा प्रवाहमान रही जिन्हें 'भरत' संज्ञा प्राप्त भी थी। उसी प्रकार जैसे आज-कल शंकराचार्य पीठ पर अभिशिक्त व्यक्ति की शंकराचार्य संज्ञा हो जाती है।"[9]

दूसरी तरफ कुछ अन्य विद्वानों का मत इससे भिन्न है। इस संदर्भ में डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र का यह कथन दृष्टव्य है-

"सत्य यह है कि नाट्यशास्त्र का लेखक भरत मुनि कोइ एक व्यक्ति नहीं था। नाट्यशास्त्र को न जाने कितने भरतों ने कितने समय में लिखा था। वस्तुतः नाट्यशास्त्र न तो किसी एक युग में लिखा गया था और न उसे किसी एक भरत ने लिखा था।"[10]

इस मत के मानने वालों का कहना है कि नाट्य के संदर्भ में 'भरत' एक जातिवाचक शब्द है जिसका प्रमाण हमें 'नाट्यशास्त्र' के कई श्लोकों में भी मिलता है। ई के कई हज़ारों वर्ष पूर्व ही भरत लोग नाट्यविद्या के विशेषज्ञ के रूप में लोक में प्रसिद्धि पा चुके थे। ये लोग गायन, वादन, नर्तन तथा अभिनय में पारंगत होते थे। इसके प्रमाण स्वरूप 'नाट्यशास्त्र' से हम कुछ उदाहरण ले सकते हैं जैसे-

---

9 . 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रस्तावना, पृष्ठ 19

10 . 'भरत और उनका नाट्यशास्त्र', डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलहाबाद, पृष्ठ 39

‘नाट्यशास्त्र’ के मूल पाठ में जहां पात्रों द्वारा मंच पर चलने के विभिन्न प्रकार की गतियों का निर्देश दिया गया है वहां ये कहा गया है कि पात्रों को अपने पावों का संचालन इस प्रकार करन चाहिए जिस प्रकार प्राचीन काल में भरत लोग मंच पर पद संचार करते थे। एक अन्य जगह पर प्रवृत्तियों और वृत्तियों की चर्चा करते हुए रचनाकार ने लिखा है कि प्रयोग स्वेच्छा से न करके उसमें भरतों की शैली का अनुकरण करना चाहिए क्यों कि पूर्व काल में भरतों द्वारा ही प्रयोग में नाट्य प्रारंभ किये गये। एक अन्य जगह पर भारती वृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि भारती वृत्ति को भारती इसलिये कहा जाता है कि इसका प्रयोग स्वनामधारी भरत लोग किया करते थे। इतना ही नहीं, रंगकर्मियों के नामों, कामों और विशेषताओं का वर्णन करने वाली तालिका में भरतों की गणना भी एक रंगकर्मी के रूप में की गयी है। वहां भरतों के लक्षण बताते हुए यह कहा गया है कि जो व्यक्ति समस्त प्रकार के वाद्य बजाना जानता हो, हर प्रकार की भूमिकाएँ करने में प्रवीण हो और नाट्य की समस्त विधियों का ज्ञान रखता हो उसे भरत कहा जाता है।

इस प्रकार ‘नाट्यशास्त्र’ में अनेक जगहों पर भरतों की परंपरा का उल्लेख किया गया है। डॉ. शारदा तनय ने भी वृद्ध भरत द्वारा ‘नाट्यवेदांगम्’ रचित होने की बात की। जब हम आचार्य भरत मुनि को ही प्राचीन काल के मानते हैं तो उसके अनुसार वृद्ध भरत तो और काफी प्राचीन रहे होंगे। नाट्यशास्त्र की रचना एक ने की या अनेकों ने की यह कहना तो मुश्किल है मगर इससे एक बात तो स्पष्ट होती है कि नट सूत्रों और भरतों की एक काफी प्रचीन परंपरा तो अवश्य रही है।

ऐसा लगता है की ‘नाट्यशास्त्र’ या उसके रचनाकार भरत मुनि से संबंधित शायद ही कोई ऐसी बात होगी जो विवादास्पद न रही हो। विद्वानों में भरत मुनि के निवास स्थल को लेकर भी मत वैविध्य प्रचलित है। कुछ विद्वान ‘नाट्यशास्त्र’ में प्रस्तुत हिमालय पर्वत के सहज एवं मनमोहक वर्णन को देख आचार्य भरत मुनि के निवास स्थल या आश्रम का हिमालय पर्वत के किसी क्षेत्र में रहे होने की संभावना दिखाते हैं। कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि ‘नाट्यशास्त्र’ में जिन वृक्षों आदि का सूक्ष्म वर्णन किया गया है वह कश्मीर के अधिक निकट है। इसलिए वें उनका निवास स्थल कश्मीर सिद्ध करते हैं। इसका वें यह तर्क भी देते हैं कि इसी कारण प्रायः कश्मीर में ही ‘नाट्यशास्त्र’ का परंपरागत अध्ययन सर्वाधिक होता रहा और इसी कारण कश्मीरी विद्वानों (भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक , अभिनव गुप्त आदि) में से ही अधिकांश ‘नाट्यशास्त्र’ के व्याख्याकार हुए हैं।

1.7) 'नाट्यशास्त्र' का महत्व:-

आचार्य भरत मुनि ने स्वयं अपने 'नाट्यशास्त्र' में अपनी रचना का प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि-

"दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।

विश्रांति जननं काले नाट्यमेवतद्भविष्यति॥"[11]

अर्थात- नाट्य की रचना मेरे द्वारा इसलिए की गयी है कि यह दुःखियों, श्रम करके थके हुए लोगों, शोक से कष्ट पा रहे लोगों और तपस्वियों के लिए विश्रांति प्रदायक हो।

'नाट्यशास्त्र' के इस प्रयोजन से इसकी व्यापकता और उदारता का पता चलता है। किसी भी वस्तु के प्रयोजन से ही उसके महत्व को आंका जा सकता है और भरत मुनि द्वारा बताये गये प्रयोजन को देखकर 'नाट्यशास्त्र' के महत्व का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। नाट्य के स्वरूप का जैसा वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है वैसा पिछले 2000 वर्षों में किसी ने भी नहीं किया है। इस ग्रंथ का अपने रचना काल के इतने वर्षों बाद भी अद्भुत महत्व है। भारत में हर तरह के कलाओं के क्षेत्र में उस कला संबंधी लोगों को सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' पढाया जाता है और खासकर इस ग्रंथ के रसाध्याय व भावाध्याय। 'नाट्यशास्त्र' की रचना के उपरांत इन विषयों पर जितना भी लेखन हुआ है उनका आधार स्रोत 'नाट्यशास्त्र' ही रहा है।

इस ग्रंथ ने भारतीय संस्कृति के रचनात्मक पक्ष को सुदृढ़ करने में असाधारण और अद्वितीय योगदान दिया है। वर्ण व्यवस्था के कठोर काल में आचार्य भरत मुनि ने शूद्रों के अधिकारों के लिए पंचम वेद की सृष्टि की। उन्होंने सवर्णों की निंदा न करते हुए उनके खिलाफ एक ललित आंदोलन छेड़ा।

गायन, वादन, नर्तन आदि ललित कलाओं के क्षेत्रों में 'नाट्यशास्त्र' का देन अनुपम रहा है। इस संदर्भ में डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र का यह कथन दृष्टव्य है-

"सर्वविदित है कि भगीरथ कठोर तपस्या करके पतित पावनी गंगा को पृथ्वी पर लाये थे। भगीरथ से पूर्व उनके पूर्वज अशुमान तथा सगर भी प्रयत्न करते रहे थे। इसी प्रकार भरत लोगों ने कठोर तप करके गायन, वादन, नर्तन की त्रिवेणी को सार्वजनिक कल्याण के लिए लोक में प्रवाहित किया।"[12]

---

11. 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम अध्याय, पृष्ठ 28, श्लोक 115

12. 'भरत और उनका नाट्यशास्त्र', डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, इलहाबाद, पृष्ठ 65,66

इसके अतिरिक्त 'नाट्यशास्त्र' भारतीय काव्यशास्त्र का जड़ है। अगर ये न होता तो कालांतर में काव्यशास्त्र पर रचे गये सैकड़ों ग्रंथ शायद रचे ही नहीं गये होते।

एक तरफ जहां धर्मों और भाषाओं ने मनुष्य को संकीर्णता के घेरे में बांधकर उसे छोटा किया है वहीं दूसरी तरफ कलाएँ पूरी मनुष्यता को भावगत एकता के सूत्र में बांधकर एकजुट रखने में समर्थ हैं और इन कलाओं ने ये काम किया भी है। 'नाट्यशास्त्र' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है और इसका श्रेय आचार्य भरत मुनि को ही जाता है।

सिनेमा के संदर्भ में भी 'नाट्यशास्त्र' अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यद्यपि सिनेमा आधुनिक व नवीन कला एवं मनोरंजन का माध्यम है तथापि नाट्य के समानांतर सिनेमा में भी गीत-संगीत, नृत्य, वादन, भाषा-साहित्य, कथा, अभिनय, पात्रों का संयोजन, सिनेमा घर(नाटक घर के समान) आदि सभी का समावेश होने के कारण हम सिनेमा के संदर्भ में भी 'नाट्यशास्त्र' का आश्रय ले सकते हैं। संक्षेप में हम ये कह सकते हैं कि सिनेमा नाट्य के सभी अंगों के साथ-साथ नवीन वैज्ञानिक व तकनीकी तत्वों के समावेश से बना कला व मनोरंजन का माध्यम है। इन दोनों में मुख्य रूप से अंतर केवल इतना है कि नाट्य प्रत्यक्ष रूप से दर्शकों के सामने मंच पर खेला जाता है और सिनेमा रिकार्ड किया हुआ दर्शकों को पर्दे पर दिखाया जाता है। दोनों ही माध्यम दर्शकों के लिए कलात्मक और मनोरंजन प्रदायी श्रव्य-दृष्य माध्यम हैं। मेरे इस लघु शोधकार्य का मुख्य उद्देश्य भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' का हिन्दी सिनेमा पर प्रभाव देखना और समझना है जिसमें मैंने विशेषकर 'नाट्यशास्त्र' के 'रसाध्याय' को अध्यायन का केंद्र बनाया है और 1975 में हिंदी सिनेमा के प्रख्यात निर्देशक रमेश सिप्पी द्वरा बनायी गयी फिल्म 'शोले' की रस योजना के अध्यायन के संदर्भ में मैंने ये कार्य किया है। 'रसाधाय' के चयन का कारण यह है कि वही संपूर्ण 'नाट्यशास्त्र' का सर्वाधिक चर्चित विषय है साथ ही भरत मुनि ने स्वयं कहा है कि-

''तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्याम्ः।

न हि रसाहते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।''[13]

अर्थात सर्वप्रथम हम रस की ही व्याख्या करेंगे क्यों कि रस के बिना अर्थ की प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार किसी भी कलात्मक कृति का मूल रस ही माना जा सकता है।

******

[13]. 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, षष्टमाध्याय, पृष्ठ 228

द्वितीय अध्याय

रस-सिद्धांत : परिचय एवं महत्व

2.1. ‘रस’ शब्द का अर्थ और उसका इतिहास

2.2. रस की परिभाषा

2.3. रस का स्वरूप

2.4. रस के अवयव

2.5. रस-संख्या व उनके भेद

2.6. रस-सिद्धांत का विकास

2.7. रस-निष्पत्ति एवं रस का स्थान

2.8. साधारणीकरण एवं रस का महत्व

2.9. अंगीरस व अंगभूत रस

2.10. रसों का परस्पर विरोध

2.11. रसदोष व रसाभास

2.1) 'रस' शब्द का अर्थ और उसका इतिहास:-

भारतीय काव्यशास्त्र में संस्कृत के आचार्यों ने काव्य या नाट्य के बहिरंगी एवं अंतरंगी तत्वों के आधार पर 6 मूलभूत काव्य सिद्धांत दिये। इनको दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- देहवादी सिद्धांत, जिसके अंतर्गत अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सिद्धांत आते हैं, एवं आत्मवादी सिद्धांत, जिसके अंतर्गत रस, ध्वनि और औचित्य सिद्धांत आते हैं। इनमें से रस सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र का प्राचीनतम काव्य सिद्धांत है। दरअसल भारतीय काव्यशास्त्र भारतीय सौंदर्यशास्त्र का मूल आधार है जिसका एक महत्वपूर्ण हिस्सा है रस। सौंदर्य चेतना दो तत्वों के मिश्रण से जन्म लेती है- प्रीति या आनंद एवं विस्मय। इसके विस्मय तत्व का आधार जहां काव्यशास्त्र का अलंकार सिद्धांत है तो वहीं इसके आनंद तत्व या प्रीति तत्व का आधार रस सिद्धांत है। मगर 'रस' शब्द का उद्भव रस सिद्धांत के प्रतिपादन से पहले ही हो चुका था। काव्यशास्त्र के जन्म के पूर्व ही 'रस' शब्द का पर्याप्त विकास वेदों और उपनिषदों में देखने को मिलता है। रस की धारणा बहुत प्राचीन है और इसका प्रयोग कई अर्थों में होत रहा है जैसे-

1. **पदार्थ का रस** : किसी वनस्पति या पदार्थ को निजोड़कर उससे निकाला गया द्रव जिसमें किसी न किसी प्रकार का स्वाद होता है उसे पदार्थ का रस कहा जाता है जैसे अम्ल, कषाय आदि। यहां पर रस का प्रयोग द्रव और आस्वाद दोनों के अर्थ में हुआ है।
2. **आयुर्वेद का रस** : इसमें भी रस का अर्थ किसी पदार्थ का सार तत्व या द्रव ही है मगर यहां द्रव के साथ आस्वाद तत्व का नहीं उस पदार्थ के सार तत्व के गुण शक्ति का ग्रहण है। कोई ऐसी वनस्पति या पदार्थ जिसमें रोग-निरोधक शक्ति हो उसके रस को आयुर्वेद का रस कहा गया है जैसे नीम, तुलसी आदि का रस।
3. **साहित्य का रस** : साहित्य के रस का अर्थ है काव्य सौंदर्य व काव्यास्वाद जिसकी विस्तृत व्याख्या ही रस सिद्धांत करती है।
4. **भक्तिरस** : ये ब्रह्मानंद व आत्मानंद का वाचक होता है और इसका लक्ष्य मोक्ष होता है। इसी को मोक्षरस या आत्मरस भी कह सकते हैं।

उपर्युक्त चारों अर्थों में से 'रस' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम पदार्थ के सारभूत द्रव के रूप में ऋग्वेद में मिलता है। उसमें कहा गया है कि -

“महे यत्पित्र ई रसं दिवे करवत्सरत्।”[1]

अर्थात जिस समय यजमान महान और पालक देवता को द्रव रूप में रस देता है।

इसके अतिरिक्त दूध व जल के अर्थ मे भी इस शब्द के प्रयोग मिलते हैं-

“यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गावां यस्तनूनाम्।”[2]

अर्थात हे अग्नि ! जो हमारे अन्न का सार विनष्ट करने की इच्छा करता है और जो अश्वों, गायों और संतानों का सार नष्ट करने की इच्छा करता है।

सोमरस के अर्थ में भी ‘रस’ शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। ऋग्वेद में कहा गया है कि-

“तं गोभिवृं षणं रसं मदाय देव वीतये। सुतं भराय सं सृज।”[3]

अर्थात देवों को मत्त करने के लिए उस अभियुक्त और अभीष्टवर्षक सोमरस में गव मिलाओ।

“सोमो अवंति धर्णसिर्दधान इंद्रियं रसम्। सुवीरो अभिशस्तिपाः।”[4]

अर्थात संसार को धारण करने वाले सोम इंद्रीय पोषक रस को धारण करते हुए उत्तम वीर और हिंसा से रक्षा करने वाले हैं।

सोमरस के आनंद विषिष्ट होने के कारण ‘रस’ शब्द का आस्वाद रूप में अर्थ विकास वहां से होता आया। इससे रस की अर्थ परीधि में शक्ति, मद व आह्लाद का समावेश हो गया। फिर धीरे-धीरे यह अर्थ जीवन के आह्लाद से आत्मा के आह्लाद में परिणत हो गया और भक्तिरस या आत्मरस की परिकल्पना सामने आई। अथर्ववेद में कहा गया है कि-

“अकामो धीरो अमृतः स्व्यम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोनः।

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानांधीरमजरं युवानम्।।”[5]

अर्थात अकाम, धीर, अमृत, स्वयंभू ब्रह्म अपने रस से आप तृप्त रहता है। वह किसी विषय में भी न्यून नहीं है। उस धीर, अमर सदा तरुण आत्मा को जानने वाला मृत्यु से नहीं ड़रता।

1. ‘रस सिद्धांत’- डॉ. नगेंद्र- नैशनल पबलिकेशन हाउस, दिल्ली - पृष्ठ 4 (उद्धृत)
2. ‘रस सिद्धांत’- डॉ. नगेंद्र- नैशनल पबलिकेशन हाउस, दिल्ली - पृष्ठ 4 (उद्धृत)
3. ‘रस सिद्धांत’- डॉ. नगेंद्र- नैशनल पबलिकेशन हाउस, दिल्ली - पृष्ठ 4 (उद्धृत)
4. ‘रस सिद्धांत’- डॉ. नगेंद्र- नैशनल पबलिकेशन हाउस, दिल्ली - पृष्ठ 4 (उद्धृत)
5. ‘रस सिद्धांत’- डॉ. नगेंद्र- नैशनल पबलिकेशन हाउस, दिल्ली - पृष्ठ 4 (उद्धृत

उपनिषदों तक आते-आते 'रस' शब्द के अर्थ में सूक्ष्म तत्वों का समावेश हो गया और द्रव से प्राप्त ऊर्जा और आह्लाद के संदर्भ में इसका प्रयोग होने लगा-

ओषधीभ्योन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसःस एष पुरुषोन्नरसयः ।"[6]

अर्थात औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष अर्थात शरीर उत्पन्न हुआ है। यह शरीर अन्न रसमय है।

इस प्रकार उपनिषदों में शरीर को अन्न रसमय कहा गया है। इसके बाद आध्यात्मिक अर्थों की सीमा में इसका प्रवेश हो जाता है-

"रसो वै सः। रसं ह्योवायं लब्धवानंदी भवति।"[7]

अर्थात वह (ब्रह्म) रस रूप है। इसलिए रस को पाकर मनुष्य आनंदमय हो जाता है।

इसके बाद रामायण-महाभारत काल में भी 'रस' शब्द का प्रयोग मिलता है। 'रामायण' की रचना करते हुए बालकाण्ड में महाकवि वाल्मीकि खुद एक श्लोक में कहते हैं कि मैं श्रृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक और वीर आदि रसों से संयुक्त काव्य का गायन करने जा रहा हूँ। जीवन रस के अर्थ में भी 'रस' का प्रयोग यहां दिखता है। 'महाभारत' में भी जल, पेय आदि के अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग दिखता है। मगर कुछ जगहों पर काम और स्नेह के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इनके बाद वात्सायन कृत 'कामसूत्र' में इस शब्द का प्रयोग रति, काम व शक्ति के अर्थ में हुआ। इन सबके बाद रस का परिपूर्ण विवेचन भरत-प्रणीत नाट्य-सूत्रों में किया गया है।

6. 'रस सिद्धांत'- डॉ. नगेंद्र – नैशनल पबलिकेशन हाउस, दिल्ली - पृष्ठ 5 (उद्धृत)

7. 'रस सिद्धांत' - डॉ. नगेंद्र- नैशनल पबलिकेशन हाउस, दिल्ली - पृष्ठ 6 (उद्धृत)

2.2) रस की परिभाषा:-

रस को समझाते हुए आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में ये रस सूत्र दिया है-

"तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" [8]

जो संपूर्ण रस-विवेचन का आधार है। यह सूत्र मूलतः रस की निष्पत्ति के बारे में बताती है मगर रस की परिभाषा को भी इसी सूत्र के विवेचन की मदद से समझा जा सकता है। इस सूत्र को स्पष्ट करते हुए वें लिखते हैं कि जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव) से संयुक्त होकर स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होते हैं। या जिस प्रकार व्यंजन आदि से संस्कृत होकर ही अन्न भोजन रस का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भावों से संयुक्त होकर, त्रिविध अभिनयों से व्यंजित होकर स्थायी भाव ही रस रूप को प्राप्त करता है। यहां स्थायी भाव अन्न के समकक्ष हैं और नाट्यसामग्री औषधि आदि के। इस परिभाषा में स्पष्ट है कि भरत मुनि के अनुसार रस स्वयं आस्वाद नहीं अपितु आस्वाद का विषय या आस्वाद्य है। दूसरे शब्दों में कहें तो भरत मुनि ने रस को विषयीगत नहीं विषयगत माना है। इस हिसाब से ये रस की विषयगत परिभाषा हुई क्यों कि रंगमंच पर प्रस्तुत की गयी चीज़ का आनंद दर्शक लेते हैं और जो रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है वह विषय होता है।

मगर भरत मुनि के बाद रस सूत्र के व्याख्याकारों के विवेचनों के परिणाम स्वरूप रस धीरे-धीरे आस्वाद्य से आस्वाद, विषयगत से विषयीगत होता गया। इस अर्थ परिवर्तन के सर्वाधिक ज़िम्मेदार प्रसिद्ध शैवाचार्य अभिनव गुप्त हैं। इन्होंने शैवाद्वैत दर्शन के आधार पर रस विवेचन कर रस को भी उसी रंग में रंग दिया। इनके मतानुसार रस का अर्थ है आनंद और आनंद विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है। फिर इनसे लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक सबके विवेचन में रस का यही रूप स्वीकृत किया गया। उनकी व्याख्याओं के आधारों में बदलाव होने के बावजूद सबका प्रतिपाद्य विषय यही रहा। तो ये कहा जा सकता है कि परंपरागत रूप से रस की दो परिभाषाएँ हैं – एक **विषयगत परिभाषा** और दूसरी **विषयीगत परिभाषा**।

8. 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, षष्टाध्याय, पृष्ठ- 228

2.3) रस का स्वरूप:-

रस की परिभाषा से ये स्पष्ट हो जाता है कि रस का स्वरूप द्विविध है। इन परिभाषाओं से रस के आस्वाद तथा आस्वाद्य, दो स्वरूप निर्मित होते हैं। एक भाव की कलात्मक अभिव्यंजना, जिसे हम विषयगत कह सकते हैं, जो मौलिक तथा भरत मुनि द्वारा प्रतिपाद्य है और दूसरा विषयीगत अर्थात काव्य सौंदर्य का आस्वाद। ऐतिहासिक तथ्य भले ही रस को विषयगत मानने के पक्ष में ही हो मगर परवर्ती भारतीय साहित्य व साहित्यशास्त्र में रस का अभिनव-प्रतिपादित आस्वाद रूप ही स्वीकृत व प्रचलित हुआ। भरत मुनि के यहां रस का आशय जो था वह बाद में काव्य का आशय बन गया कि भाव की कलात्मक अभिव्यंजना काव्य है और उस काव्य का आस्वाद रस है। इस प्रकार काव्य आस्वाद्य है और रस आस्वाद। तो इसी मान्य अर्थ के संदर्भ में रस का स्वरूप-विवेचन अधिक सार्थक होगा। रस के इस विषयीगत स्वरूप को जन्म देने वाले अभिनव गुप्त का कहना है कि रस का स्वरूप अलौकिक है और अपनी इस अलौकिकता के कारण ही वह लौकिक स्थायी भाव से विलक्षण है। इस के लिए इन्होंने व्यंजना नामक वृत्ति को स्वीकार किया है। इन्होंने रसों को सुखात्मक या आनंद रूप माना है। इनका कहना है कि सब रस आनंद प्रदायी होते हैं। दुःख प्रधान स्थायी भावों वाले रसों के विषय में यें कहते हैं कि करुण आदि रसों के आनंदात्मक होने में सहृदयों के स्वानुभव को ही प्रमाण मानना चाहिए। यह सत्य है कि शोक केवल दुःख का ही जनक है मगर नाट्य या काव्य में करुण रस से सुख मिला करता है। रसास्वाद के संदर्भ में इनकी मान्यता है कि जब तक सामाजिकों में रत्यादि रूप वासना जन्म जन्मांतर से संचित संस्कार रूप में न हो तब तक उसे रसास्वाद नहीं होगा और यह वासना यें दो प्रकार की बताते हैं – आधुनिक व प्राचीन। 'काव्यप्रकाश' के ग्रंथकार आचार्य मम्मट ने रस के स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है कि-

"कार्णान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानिच।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाद्यकाव्ययोः।।

विभावानुभावास्तत्कथ्यंते व्यभिचारिणः।

व्यक्तःअ स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः।।" [9]

अर्थात लोक में रति इत्यादि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं वे यदि नाट्य या काव्य में आते हैं तो उन्हें क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भव कहा जाता है। उन

9. 'काव्यप्रकाश'- आचार्य मम्मट, सम्पादक- कपिलदेव गिरि, चतुर्थ अल्लाम - पृष्ठ 91

विभावादियों से व्यक्त वह स्थायी भाव रस माना गया है। 14वी शताब्दी में 'साहित्य दर्पण' नामक ग्रंथ में इसके रचनाकार आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सहृदय में रत्यादि रूप स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं तथा आस्वाद या आनंद रूप हो जाते हैं वे रस कहें जाया करते हैं। यहां स्थायी भावों का व्यक्त या अभिव्यक्त होने का अर्थ है कि जिस प्रकार दूध दही में परिणत होता है, उसी प्रकार स्थायी भावों का एक दूसरे रूप में अर्थात रस रूप में परिणत होना। इन्होंने अपना मत अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का सारांश संकलित करते हुए प्रस्तुत किया और कहा है कि-

"सत्वोद्रेकाद खंडस्वप्रकाशानंद चिन्मयः

वेद्यांतर स्पर्शशून्योब्रम्हास्वाद सहोदरः

लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः

स्वाकारवदभिन्नत्वेनाथमास्वाद्यते रसः।"[10]

अर्थात कुछ ही लोगों को रस नामक काव्यानंद का अनुभव हो पाता है और वो तभी हो पाता है जब सामाजिक का हृदय सत्वोद्रेक की स्थिति में हो रस अखण्ड और स्वप्रकाशमय एवं चिन्मय होता है और एक ऐसा अनुभव होता है जिससे अन्य किसी भी लौकिक वस्तु का स्पर्श नहीं हो सकता। ये एक लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण अनुभव है और यदि इसके समकक्ष कोई अन्य अनुभव है तो वह केवल आत्मसाक्षात्कार ही हो सकता है। इस अनुभव में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद ही मिट जाता है।

संस्कृत के कुछ आचार्यों ने रस के स्वरूप को सुखदुःखात्मक भी माना है जिनमें दंडी, वामन, शंकुक, लोल्लट, भोज व रामचंद्र गुणचंद्र उल्लेखनीय हैं। दरअसल भरत ने कहा है कि जिस प्रकार व्यंजनों से संस्कृत भोजन को खाकर प्रसन्नचित भोक्ता 'हर्षादि' का अनुभव करता है, उसी प्रकार प्रसन्न दर्शक या प्रेक्षक विविध भावों और अभिनयों से युक्य स्थायी भावों का आस्वादन करते हुए 'हर्षादि' का अनुभव करता है। यहां 'हर्षादि' शब्द ध्यान देने योग्य है। रस को सुखदुःखात्मक मानने वाले आचार्य अपनी मान्यता का समर्थन करते हुए कहते हैं कि भरत ने रसानुभव के लिए 'हर्षात्मक' शब्द का उपयोग न करते हुए 'हर्षादि' शब्द का उपयोग किया है और यहां आदि से उनका आशय दुःखात्मक भावों से रहा होगा।

10. 'रस सिद्धांत-' डॉ. नगेंद्र, नैशनल पबलिकेशन हाउस, दिल्ली, पृष्ठ - 87 (उद्धृत)

2.4) रस के अवयव:-

रस जिन चीजों के मिलने से बनते हैं या निष्पन्न होते हैं उनको रस सामग्री या रस के अवयव कहा जाता है। रस की निष्पत्ति कैसे होती है ये बताने के लिए भरत ने जो रससूत्र दिया है-

“तत्र विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।”[11]

इसके आलोक में ही रस के अवयवों की जानकारी होती है। इसमें बताया गया है कि जहां विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव इन तीनों का संयोग होता है वहां रस की निष्पत्ति होती है। यद्यपि इस सूत्र में कहीं भी स्थायी भाव का उल्लेख नहीं किया गया है तथापि रस-निष्पत्ति की इस प्रक्रिया के मूल में स्थायी भाव ही हैं क्यों कि भरत ने स्वयं रस निष्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा है कि विविध भावों से संस्कृत होकर स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होते हैं। इस प्रकार प्रमुख रस सामग्री या रस के प्रमुख अवयव चार हैं- विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव या संचारी भाव व स्थायी भाव। अब हम इन अवयवों के पर थोड़े विस्तार से प्रकाश ड़ालते हैं-

1. **विभाव-** विभाव रस प्रक्रिया में ठीक वही भूमिका अदा करते हैं जो सामान्य भाषा में किसी कार्य को अंजाम देने वाले कारण करते हैं। इसे हम ये भी कह सकते हैं कि सहृदय के हृदय में स्थायी भावों को आस्वादनयोग्य बनाने वाले उपादान विभाव हैं। भरत मुनि ने इस शब्द को कारण, हेतु, या निमित्त के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। विभाव स्थायी भावों को ज्ञापित कराने वाले विषय होते हैं। ये विभाव दो प्रकार के होते हैं- आलंबन विभाव, उद्दीपन विभाव।

   क. आलंबन विभाव- आलंबन का शाब्दिक अर्थ है आधार। जिस आधार के कारण स्थायी भाव जागृत होते हैं, जिसके आलंबन से रसानुभूति होती है उसे आलंबन विभाव कहते हैं। उदाहरण स्वरूप कण्व के आश्रम में शकुंतला को देखकर दुष्यंत के मन में रति भाव उत्पन्न हुआ। यहां शकुंतला दुष्यंत के मन में रति भाव के उत्पन्न होने का आधार है इसलिए वह इस स्थिति में रति भाव का आलंबन विभाव हुई।

   ख. उद्दीपन विभाव- उद्दीपन का अर्थ है किसी चीज़ को उद्दीप्त करना या भड़का देना। स्थायी भाव को अंकुरित करने वाले साधन जहां आलंबन होते हैं वहीं उस आलंबन से संबद्ध अन्य चीज़ें या परिस्थितियाँ जो उस भाव को उद्दीप्त करते हैं उन्हें उद्दीपन

11. ‘ नाट्यशास्त्र’, संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, षष्टाध्याय, पृष्ठ 228

कहा जाता है। उदाहरण स्वरूप आलंबन विभाव के उदाहरण में बताये गये परिवेश में आश्रम का नैसर्गिक सौंदर्य एवं शकुंतला की लालित्यपूर्ण चेष्टाएँ भी रति भाव को जागृत करने के कारण हैं और आलंबन नहीं। ये कारण उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।

जिसके प्रति भाव जागृत होते हैं वह आलंबन विभाव होता है, जिसके मन में भाव उत्पन्न हो रहे हैं वह आश्रय होता है और जो परिवेश व आलंबन की चेष्टाएँ होती हैं, जिनसे आलंबित भाव उद्दीप्त होते हैं, वे उद्दीपन विभाव होते हैं। अगर हम सहृदय सामाजिक की बात करें तो उसके मन में दुष्यंत-शकुंतला के इस प्रेम प्रसंग को देखकर जो रति भाव उत्पन्न होता है और जिस श्रृंगार रस का आस्वादन वह करता है उसके आलंबन दुष्यंत व शकुंतला दोनों हैं एवं उनकी चेष्टाएँ व परिवेश उद्दीपन का कार्य करते हैं।

2. **अनुभाव-** विभाव द्वारा जागृत भावों के अनुकूल आश्रय कुछ शारीरिक चेष्टाएँ करता है जिनसे भाव का अनुमान होता है। इसलिए ये भाव के अनुमापक हैं और काव्यशास्त्र में इन्हें ही अनुभाव कहा गया है। जैसे क्रोध में नेत्रों का लाल हो जाना, रति में रोमांच, आलिंगन, शोक में आँसू बहाना आदि। दशरूपकार धनंजय ने अनुभावों को इस प्रकार परिभाषित किया है-

"अनुभावो विकाररस्तु भाव सूचकः।"[12]

अर्थात अनुभाव भावों की सूचना देने वाले विकार (परिवर्तन) हैं। आचार्य भरत मुनि ने अनुभावों के चार भेद माने हैं – कायिक, मानसिक, सात्विक व आहार्य।

क. कायिक अनुभाव- शारीरिक क्रियाओं द्वारा मन में जागृत भाव की सूचना देने वाली चेष्टाओं को कायिक या आंगिक अनुभाव कहते हैं। इन्हें प्रयासपूर्ण प्रकट किया जाता है जैसे भय में भागना, क्रोध में क्रोधपात्र को मारना-पीटना आदि।

ख. मानसिक अनुभाव- भाव के अनुरूप उत्पन्न मन की चेष्टाएँ मानसिक अनुभाव कहलाती हैं। हर्ष, विषाद आदि इसी के अंतर्गत आते हैं।

ग. आहार्य अनुभाव- ये वो अनुभाव हैं जो मन या बुद्धि की योजना से किये जाते हैं। विशेष रूप से वेशभूषा बदलना आहार्य अनुभाव कहा गया है। जैसे वेश बदलकर जासूसी करना, शत्रू को वेश बदलकर मारना आदि।

घ. सात्विक अनुभाव- सात्विक अनुभाव वो हैं जो मन में भाव के उत्पन्न होने के साथ ही सहज भाव से बिना किसी प्रयत्न के उस भाव के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। आचार्य

12. 'भारतीय काव्यशास्त्र'- डॉ. उषा शुक्ल, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल, पृष्ठ- 52

विश्वनाथ ने इस संदर्भ में कहा है कि सत्व से उत्पन्न विकार सात्विक अनुभाव कहलाते हैं। ये अनुभाव मन में रजोगुण व तमोगुण से मुक्त सत्वगुण के उद्रेक की स्थिति में पैदा होते हैं। भरत मुनि ने आठ प्रकार के सात्विक अनुभाव बताये हैं-

1 स्तंभ - स्तंभ का अर्थ है रुक जाना, शरीर का जड़वत हो जाना, मौन खड़े रह जाना स्तंभ है।

2 स्वेद - इसका अर्थ है शरीर से पसीना छूटना। स्वेद का अर्थ है पसीना।

3 रोमांच - रोंगटे खड़े हो जाना या शरीर का पुलकित होना रोमांच कहलाता है।

4 स्वरभंग – आवाज़ का लड़खड़ा जाना, गद्गद् हो जाना या बोल न पाना स्वरभंग है।

5 वेपथु (कंप) – शरीर का थर्रा जाना या काँपना।

6 वैवर्ण्य – वैवर्ण्य का अर्थ है रंग उड़ जाना। चेहरे का रंग उड़ जाना या फीका पड़ जाना वैवर्ण्य कहलाता है।

7 अश्रु – सुखदुःख के अतिरेक में अप्रयत्न रूप से नेत्रों से आँसुओं का बहना।

8 प्रलय – पूर्णतः अचेत, बेसुध, या विवश हो जाना प्रलय नामक सात्विक भाव है।

3. **व्यभिचारी भाव या संचारी भाव-** जो भाव स्थायी भाव के अंतर्गत ही डूबते उछलते रहते हैं और जो उनको पुष्ट करके आस्वादयोग्य बनाते हैं वे व्यभिचारी या संचारी भाव कहलाते हैं। एक ही स्थायी भाव के साथ कई संचारी भाव हो सकते हैं जैसे प्रिय के मिलन पर हर्ष, उसके वियोग से दुःख, उसकी उपेक्षा पर क्षोभ, उसके अहित की आशांका पर चिंता की अनुभूति का होना। यहां स्थायी भाव एक ही है- रति और हर्ष, दुःख, क्षोभ, चिंता ये अनेक संचारी भाव एक ही स्थायी भाव में अस्थायी रूप से विचरते रहते हैं। इनके अस्थायी (संचारी) होने के कारण ही इन्हें संचारी भाव कहते हैं। आचार्य धनंजय ने कहा है कि स्थायी भाव समुद्र के समान है तो संचारी भाव उसमें उठने वाली लहरें हैं जिनका उत्थान-पतन होता रहता है। इन संचारी भावों की संख्या 33 बतायी गयी है। वास्तव में इस भावात्मक मन के संचारी भाव अनंत हैं और ऐसे कई भाव हैं जिनकी ओर आचार्यों ने संकेत नहीं किया है। मगर परम्परागत रूप से जो 33 संचारी भाव बताये गये हैं उन्हीं में आचार्यों ने अनंत चित्तवृत्तियों को समाहित करने का प्रयास किया होगा, या उन अनंत चित्तवृत्तियों में से 33 प्रमुख भाव संचारी भाव बताये होंगे जो इस प्रकार हैं- हर्ष, विषाद, त्रास, लज्जा, ग्लानि, शंका, असूया, अमर्ष (निंदा, आक्षेप अपमान आदि से उत्पन्न क्षोभा), मोह, गर्व, औत्सुक्य (वांछित वस्तु की प्राप्ति में

विलंब की असहनीयता), उग्रता, चपलता, दैन्य, जड़ता, आवेग, निर्वेद, धृति (चित्त की स्पृहहीन स्थिति), मति, वितर्क, आलस्य, श्रम, निद्रा, स्वप्न, स्मृति, मद, उन्माद, अवहित्था (हर्ष, काम आदि का गोपन), अपस्मार (चित्तविक्षेप), व्याधि, मरण।

कभी-कभी रस की पहचान संचारी भावों से ही की जा सकती है जैसे वीर व रौद्र रसों में प्रायः आलम्बन एवं उद्दीपन एक होते हैं मगर उनके संचारी भाव भिन्न होते हैं - वीर रस में धैर्य, हर्ष आदि संचारी भाव होते हैं और रौद्र रस में उग्रता, मद, चपलता आदि संचारी भाव होते हैं।

इन संचारी या व्यभिचारी भावों की पांच स्थितियाँ होती हैं-

1. भावोदय- सामाजिक के मन में एक भाव को शांत कर तुरंत दूसरे भाव के जगने का नाम भावोदय है।
2. भाव संधि- जहां एक ही स्थिति में दो संचारी भाव मन में उत्पन्न होकर निवास करते हैं वहां भाव संधी होता है। जैसे एक स्त्री जो अपने ससुराल से मायके जा रही होती है तब उसके मन में एक तरफ अपने घर जाने की खुशी तो होती है मगर दूसरी तरफ अपने पति से दूर जाने का दुःख भी विद्यमान रहता है।
3. भाव शबलता- दो से अधिक संचारी भावों का मन में एक साथ उत्पन्न होना भाव शबलता की स्थिति है। यहां क्रम से कभी एक भाव शबल होता है तो कभी दूसरा।
4. भाव शांति- इसमें भी सामाजिक के मन में एक परिस्थिति में दो भाव उत्पन्न होते हैं मगर यहां एक भाव के उदय होने पर दूसरा भाव शांत हो जाता है।
5. भावाभास- भावाभास का अर्थ है किसी भाव का न होते हुए भी उस भाव की प्रतीति होना। इस स्थिति का उत्पादक तत्व भावों के अनुचित वर्णन को बताया गया है।

4. स्थायी भाव- स्थायी भाव रस प्रक्रिया के मूल आधार हैं। स्थायी भाव ही रस की अवस्था तक पहुँचते हैं। ये स्थायी भाव सहृदय के हृदय में वासना या संस्कार रूप में विद्यमान होते हैं और स्थायी रूप में होते हैं। ये स्थायी भाव इसलिए कहलाते हैं क्यों कि इनका स्वतंत्र अस्तित्व होता है और दूसरे अस्थायी या संचारी भाव इन स्थायी भावों को ही पुष्ट करते हैं। बाकी अस्थायी भाव दूसरे भावों के सहायक होके ही जीवित रहते हैं। आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में आठ स्थायी भावों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं -

"रतिहासश्च शोकश्च क्रोधोत्साह्यो भयं तथा।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावः प्रकीर्तिता।।"[13]

रति (श्रृंगार रस), हास (हास्य रस), शोक (करुण रस), क्रोध (रौद्र रस), उत्साह (वीर रस), भय (भयानक रस), जुगुप्सा (वीभत्स रस) एवं विस्मय (अद्भुत रस)

भरत ने ये आठ स्थायी भाव आठ रसों के मूल बताये हैं। उनके बाद के आचार्यों जैसे उद्भट, आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, भोजराज, विश्वनाथ आदि के अभिमतों से आज पूरे दस रस मान्य हैं और इसलिए इसमें और दो स्थायी भाव जोड़े गये हैं -

शम (शांत रस का स्थायी भाव), वात्सल (वात्सल्य रस का स्थायी भाव)

आचार्य मम्मट ने शांत रस का स्थायी भाव शम की जगह निर्वेद को माना है। इस तरह आज 10 स्थायी भाव हैं मगर भरत द्वारा प्रतिपादित स्थायी भाव तो आठ ही हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान के साथ जोड़कर भी भारतीय भाव-विवेचन को देखा व परखा जा सकता है। जिस तरह भारतीय काव्यशास्त्र में भावों को स्थायी व अस्थायी या संचारी, दो प्रकार के बताया गया है, उसी तरह आधुनिक मनोविज्ञान में भी भावों के दो रूप बताये गये हैं - सेंटिमेंट और इमोशन। इनके बीच अंतर समझाते हुए कहा है कि सेंटिमेंट किसी आलंबन विशेष से संबद्ध होकर व्यवस्थित रूप में विकसित होने वाली भावात्मक प्रवृत्ति है और इमोशन उस भाव की उत्तेजित अवस्था मात्र है। मनोविज्ञान में 14 सहज भाव माने गये हैं और इनको मनःसंवेग कहा गया है। आधुनिक मनोविज्ञान में जो मनः संवेग हैं वही भारतीय काव्यशास्त्र में स्थायी भाव हैं। मनोविज्ञान में बताये गये मन के 14 सहज प्रवृत्तियों में से दस प्रवृत्तियां संस्कृत काव्यशास्त्र में बताये गये दस स्थाती भावों के समान ही हैं। शेष चारा – भोजनोपार्जन की प्रवृत्ति, संघ या सामाजिक प्रवृत्ति, संग्रह की प्रवृत्ति एवं नवनिर्माण की प्रवृत्ति हैं जो काव्य या नाट्य की दृष्टि से प्रेषणीय न होने के कारण हमारे स्थायी भावों में वर्णीत नहीं हैं । इससे ये पता चलता है कि भारतीय काव्यशास्त्र का भाव-विवेचन पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है।

13.'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, षष्टाध्याय, पृष्ठ 221, श्लोक 18

2.5) रस-संख्या व उनके भेद:-

रसों की संख्या के प्रश्न पर अलग-अलग विद्वनों के भिन्न-भिन्न मत हैं। आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के 'रसाध्याय' में साफ लिखा है कि नाट्य में आठ प्रकार के रस होते हैं-

"श्रृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः समृताः।।"[14]

अर्थात नाट्य में स्वीकृत रस आठ हैं- **श्रृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, अद्भुत, बीभत्स व भयानक।**

भरत मुनि द्वारा बताये गये इन आठ रसों का उल्लेख इससे पहले स्थायी भावों के विश्लेषण में भी हो चुका है। इन आठ रसों में भरत ने चार रसों को मूल रस व बाकी चार रसों को उन मूल रसों से उत्पन्न माना है -

"श्रृंगाराद्धि भवेधास्यो रौद्राष्च करुणो रसः।

वीराच्चैवाद्भुतोत्पचिर्बीभत्साच्च भयानकः ।।"[15]

अर्थात इनमें श्रृंगार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की तथा वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। इन्हों ने कहा है कि श्रृंगार का अनुकरण करने वाली प्रवृत्ति हास्य, रौद्र का कर्म करुण, वीर का कार्य अद्भुत व बीभत्स चीज़ को देखने का कार्य भयानक होता है। 'नाट्यशास्त्र' में भरत ने हर रस को अलग से स्पष्ट करते हुए हर रस के लक्षण बताके साथ-साथ उनके स्थायी भावों, अनुभावों, संचारी भावों का भी उल्लेख किया है। इन आठ रसों के भी उपभेद इन्होंने बताये हैं –

श्रृंगार रस के दो भेद श्रृंगार की अवस्थाओं के आधार पर किये गये हैं- संयोग श्रृंगार व विप्रलम्भ श्रृंगार। नायक-नायिका के मिलन की स्थिति में संयोग श्रृंगार होता है और वियोग की स्थिति में विप्रलम्भ श्रृंगार। उनके नाट्यशास्त्र के प्रमुख टीकाकार अभिनवगुप्त ने श्रृंगार रस के दो विभिन्न दृष्टियों से भेद किये हैं-

---

14. 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, षष्टाध्याय, पृष्ठ 218, श्लोक 16

15. 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, षष्टाध्याय, पृष्ठ 294, श्लोक 40

1. अभिनय की दृष्टि से- वचनात्मक, वेषात्मक और क्रियात्मक
2. मानव जीवन के पुरुषार्थों की दृष्टि से- मुख्य रूप से काम श्रृंगार व गौण रूप से अर्थ श्रृंगार तथा धर्म श्रृंगार।

अर्थ श्रृंगार - 'अर्थ' शब्द का आशय है संसार में कुछ प्राप्त करना या करने की चेष्टा करना। इस दृष्टि से नायक-नायिका के प्रेम-प्रसंगों में इसका आशय इस प्रकार लिया जा सकता है कि प्रिय या प्रेयसी का प्रेम अगर सहज रूप में न मिले तो उसे पाने के लिए की जाने वाली चेष्टाएँ अर्थ श्रृंगार कहलाती हैं।

धर्म श्रृंगार - धार्म सम्मत्त रति से उत्पन्न श्रृंगार रस को धर्म श्रृंगार कहा गया है। अभिनवगुप्त ने इसके तीन प्रकार माने हैं-

- **स्नेह:** समान व्यक्तियों की परस्पर रति
- **भक्ति:** छोटों की बड़ों के प्रति रति
- **वात्सल्य:** बड़ों की चोटों के प्रति रति

कालांतर में जिनको पृथक रसों- साख्य रस. भक्ति रस तथा वात्सल्य रस, के रूप में वर्णित किया गया उनको अभिनवगुप्त ने रति के व्यापक अर्थ (किसी व्यक्ति के प्रति प्रीति, अनुराग या आसक्ति) को ध्यान में रखते हुए रति स्थायी भाव वाले श्रृंगार रस में ही धर्म श्रृंगार के अंतर्गत समाविष्ट कर दिया है। यहां भक्ति का अर्थ ईश्वर के प्रति भक्ति नहीं है जो सामान्य रूप से लिया जाता है। यहां भक्ति से तात्पर्य है छोटों की बड़ों के प्रति श्रद्धा जिसके मूल में भी रति भाव ही कार्यरत होता है। दोस्ती या मैत्री स्नेह के अंतर्गत आता है।

काम श्रृंगार - वास्तव में देखा जाये तो काम का अत्यंत विस्तृत अर्थ है। संसार के हर भोग्य वस्तु के प्रति मनुष्य का आकर्षण काम कहलाती है। किंतु यहां काम का स्त्री-पुरुष के मिलन के निमित्त अर्थ में प्रयोग हुआ है जिस पर आचार्य भरत मुनि ने भी ज़ोर दिया है। अभिनवगुप्त ने इस काम श्रृंगार के दो भेद बताये हैं जो आचार्य भरत मुनि ने श्रृंगार रस के भेद माने हैं-

- **संयोग श्रृंगार**
- **विप्रलंभ श्रृंगार**

इसके बाद रुद्रट, भोजराज, धनंजय, मम्मट जैसे आचार्यों ने अन्य उपभेद भी किये हैं जैसे प्रच्छन्न, प्रकाश, अयोग या पूर्वराग आदि मगर बाद के आचार्यों द्वारा संयोग, विप्रलंभ, स्नेह, भक्ति व वात्सल्य रसों को ही स्वीक्रिती मिली।

हास्य रस के भी भरत ने मूलतः दो उपभेद किये हैं– आत्मस्थ जहां विदूषक या पात्र स्वयं हँसता है और परस्थ जहां वह दूसरों को हँसाता है। इसके बाद आचार्य भरत मुनि ने हास्य के 6 प्रकारों - 'स्मित' (जिसमें मुसकान बिना दाँत दिखाये होती है और गाल थोड़े खिल जाते हैं), 'हसित' (नेत्रों का खिल जाना, गाल थोड़े फैल जाना और मुसकान के साथ कुछ दाँतों का दिखना इसके लक्षण हैं), 'विहसित' (जिसमें सप्रसंग हास्य से मुख थोड़ा लाल हो जाये तथा जिस हास्य की मधुर ध्वनि हो), 'उपहसित' (हँसते-हँसते मस्तक सिकुड़ जाना एवं नाक का फूल जाना इसके लक्षण हैं), 'अपहसित' (बेमौके हँसना, हँसते-हँसते आँखों में आँसू आ जाना तथा मस्तक का हिलना इस हास्य के लक्षण हैं), 'अतिहसित' (ऐसा हास्य जिसमें आँखे आँसुओं से भर जाये, मुख से कर्णकटु शब्दों का उच्चारण हो तथा पसलियों को हाथों से दबाना पड़े) का उल्लेख किया है। इन 6 प्रकारों में आचार्य भरत ने 'स्मित' व 'हसित' को उत्तम प्रकृति के मनुष्यों का हास्य, 'विहसित' व 'उपहसित' को मध्यम प्रकृति के मनुष्यों का हास्य तथा 'अपहसित' व 'अतिहसित' को अधम प्रकृति के मनुष्यों का हास्य बताया है। करुण रस के भरत ने तीन भेद किये हैं– धर्मोपधातज (धर्म की हानि से उत्पन्न), अर्थपच्योद्भव (अर्थ की हानि से उत्पन्न), एवं शोककृत (स्वजनों की मृत्यु शोक से उत्पन्न)। वीर रस के तीन भेद हैं- दानवीर, धर्मवीर व युद्धवीर। बाद में दशरूपककार धनंजय ने धर्मवीर के स्थान पर दया वीर का उल्लेख किया है तथा आचार्य विश्वनाथ ने इन दोनों को अलग कर चार उपभेद बताये हैं। भयानक रस के उपभेद भी भरत के अनुसार तीन हैं- व्याजजन्य (कृत्रिम), अपराधजन्य व वित्रासितक (खतरे की शंका आदि से उत्पन्न)। वीभत्स रस के मूलतः तीन ही भेद भरत ने बताये हैं- शुद्ध, क्षोभभण व उद्वेगी। शुद्ध वीभत्स रुधिर आदि से उत्पन्न क्षोभण है और विष्ठा, कृमि आदी से उत्पन्न होने वाला उद्वेगी वीभत्स अशुद्ध है। श्रृंगार एवं हास्य रस के समान रौद्र रस के भी तीन उपभेदों के होने का संकेत भरत ने दिया है। ये तीन उपभेद हैं- आंगिक या क्रियात्मक, वेषात्मक एवं वचनात्मक। अद्भुत रस के भी भरत ने दो उपभेद बताये हैं- दिव्य (दैवीय चमत्कार से उत्पन्न) एवं आनंदज (मनोरथ की सिद्धि करने वाली अप्रत्याशित घटनाओं से उत्पन्न)। भरत तथा अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उपभेदों का विस्तार अधिकाधिक हो चुका है- श्रृंगार के 52, हास्य के 36, करुण के 8, वीर के 9, भयानक एवं वीभत्स के 6, अद्भुत के 2, रौद्र के 3, कुल मिलाकर पूरे 122 उपभेदों का उल्लेख मिलता है। इनके

अतिरिक्त भरत ने 'नाट्यशास्त्र' के 'रसाध्याय' के श्लोक 44 से 46 तक नाटक में निष्पन्न होने वाले इन आठ रसों के प्रतिनिधी रंग व इनके अधिदेवताओं का भी उल्लेख इअ प्रकार किया है-

रस	**स्थायी भाव**	**वर्ण**	**अधिदेवता**
श्रृंगार	रति	श्याम	विष्णु (कामदेव)
हास्य	हास	श्वेत (सफेद)	प्रमथ गण
रौद्र	क्रोध	रक्त (लाल)	रुद्रदेव
करुण	शोक	कपोत	यम
वीर	उत्साह	गौर (चमकीला सफेद)	महेंद्र
अद्भुत	विस्मय	पीत (पीला)	ब्रह्म
वीभत्स	जुगुप्सा	नीला	महाकाल
भयानक	भय	काला	काल देव

वैसे तो भरत ने नाट्य में इन आठ रसों का ही उल्लेक किया है मगर 'नाट्यशास्त्र' के 'रसाध्याय' के अंत में 84 से 89 तक के श्लोकों में इन्होंने नवां रस- शांत रस का भी उल्लेख किया है। यहां इन्होंने लिखा है कि अन्य रसों के रत्यादि स्थायी भाव वैकारिक भाव है और शांत प्रकृति है। विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में लीन हो जाते हैं। शांत रस से अपने-अपने हेतुओं को प्राप्त करते हुए सभी भाव उद्भूत होते हैं तथा निमित्त के दूर हो जाने पर पुनः उसी में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार रस संख्या नौ समझना चाहिए। भरत ने शांत रस को मोक्ष-प्राप्ति में उपयोगी भी बताया है। इस प्रकार भरत ने श्रृंगारादि आठ रसों को विकार व शांत को प्रकृति मानकर उन आठों रसों को शांत से ही उत्पन्न एवं बाद में शांत में ही विलीन होने वाले बताकर रसों के माध्यम से वेदांत का सार समझा दिया।

बाद के आचार्यों ने रसों की संख्या अलग-अलग मानी है। दंडी ने भरत की ही तरह नाट्य में 8 रस स्वीकार किये। इनके बाद उद्भट ने इनमें शांत रस को जोड़ा। फिर रुद्रट ने इन नौ रसों के साथ प्रेयान रस को भी जोड़कर रसों की संख्या 10 मानी। इन 10 रसों के साथ 'उदात्त' एवं 'उद्धत' नामक अन्य दो रसों को जोड़कर रसों की संख्या को 12 मानने वाले भोजराज थें। रस के स्वरूप का विवेचन करने वाले प्रमुख आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य नामक नवीन रस की उद्भावना की। रूप गोस्वामि द्वारा भक्ति रस व भानुदत्त द्वारा माया रस स्वीकृत किये गये। ऐसे एकाधिक आचार्यों द्वारा अन्य कुछ रसों का उल्लेख है मगर प्रायः सर्व-स्वीकृत रस दस – श्रृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीभत्स, भयानक, वीर, अद्भुत, शांत, वात्सल्य ही हैं।

2.6) रस-सिद्धांत का विकास:-

रस सिद्धांत का संस्कृत काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों के यहां क्रमशः विकास हुआ। इनको मोटे तौर पर तीन शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है जो निम्नलिखित है-

1. रसवादी आचार्य – भट्ट लोल्लट, भट्ट तौत, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक, अभिनव गुप्त, राजशेखर, धनंजय, धनीक, रुद्रभट्ट, रामचंद्र-गुणचंद्र, विश्वनाथ, भानुदत्त, रूप गोस्वामी, शारदातनय आदि।
2. अलंकारवादी आचार्य – भामह, दंडी, उद्भट, रुद्रट आदि।
3. ध्वनिवादी आचार्य – आनंदवर्धन, मम्मट, हेमचंद्र, पण्डितराज जगन्नाथ, जयदेव, विद्याधर, रुय्यक, अप्पयदिक्षीत आदि।

स्वतंत्र या समन्वयात्मक दृष्टि रखने वाले वामन, क्षेमेंद, भोजराज, एवं कुंतक का भी उल्लेख इस प्रसंग में महत्वपूर्ण है। आचार्य भरत मुनि ने जो रससूत्र दिया है उसको मूल आधार बनाकर भारतीय काव्यशास्त्र में इन सभी आचार्यों ने रस विवेचन किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस सिद्धांत के इस विकास क्रम को समझने के क्रम में सबके रस संबंधित मतों पर अब दृष्टि ड़ालते हैं-

भरत के पश्चात इस क्रम में सर्वप्रथम अलंकार संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य भामह का नाम आता है और इनका ग्रंथ है 'काव्यालंकार'। इन्होंने काव्य में रस का अस्तित्व तो स्वीकर किया है मगर उसे रसवत्, ऊर्जस्वी एवं प्रेयस अलंकारों में अंतर्भूत किया है। भामह कहते हैं कि रस अलंकार्य नहीं अलंकार है। दंडी ने भी भामह की तरह मूलतः अलंकार को काव्य का प्रधान तत्व मानते हुए भरत प्रणीत आठ रसों का रसवत् अलंकार के अंतर्गत ही विवेचन किया है। रीति संप्रदायकार वामन भी रस को स्वीकार तो करते हैं मगर स्वतंत्र रूप में नहीं। यें रस को काव्य गुण के अंतर्गत रखते हैं। इनके बाद उद्भट भी उन्हीं अलंकारवादी आचार्यों की कोटि में आते हैं जो रस को अलंकारों का ही रूप मानते हैं। अलंकारवादी आचार्यों में अगला नाम रुद्रट का हैं जो ऐसे पहले अलंकारवादी आचार्य हैं जिन्होंने रस को अलंकार के चंगुल से निकालकर अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में चार अध्यायों में स्वतंत्र रूप से रस-विवेचन किया है। इन्होंने भरत-प्रतिपादित रसों में पहली बार एक नवीन रस प्रेयान रस को जोड़कर रस संख्या को बढ़ाया है।

फिर रसवादियों मे भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक एवं अभिनव गुप्त रस सिद्धान्त के चार प्रमुख व्याख्याकार हैं। इन्होंने रस-निष्पत्ति पर विचार करते हुए अलग से सिद्धांत भी प्रस्तु किये हैं।

'काव्यकौतुक' के रचनाकार भट्ट तौत के रस-विवेचन की काव्यशास्त्र के इतिहास में अहम भूमिका है। इन्होंने रस की स्थिति सहृदय के हृदय में स्वीकार की है। डॉ. नगेंद्र ने इस संदर्भ में कहा है की-

"रस सिद्धांत के विकास में भट्ट तौत का सर्वप्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में रस-चक्र के अंतर्गत कवि के अनुभव का भी समावेश किया है और इस प्रकार साधारणीकरण की प्रक्रिया में नायक और सहृदय के बीच माध्यम रूप में कवि की प्रतिष्ठा की है।"[16]

फिर 'काव्य मीमांसा' के रचनाकार राजशेखर ने रस को काव्य की आत्मा का दर्जा दिया। वे अपने ग्रंथ में 'काव्य पुरुष' का रूपक निरूपण करते समय लिखते हैं कि-

"शब्दार्थौ ते शरीरं, रस आत्मा।"[17]

अर्थात सरस्वति अपने पुत्र रस पुरुष से कहती है कि शब्द और अर्थ तुम्हारे शरीर है एवं रस तुम्हारी आत्मा है। धनंजय एवं धनीक अविस्मरणीय रसवादी आचार्य हैं। इनका 'दशरूपक' नामक ग्रंथ प्रत्यक्षरूप से रस-समर्थक ग्रंथ है। इसमें इन्होंने रस का जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित किया है। इन्होंने रसों का सर्वांगी विवेचन अपने 'दशरूपक' में प्रस्तुत किया है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का नाम इस क्रम में अत्यंत महत्वपूर्ण है। इन्होंने

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"[18]

कहा है जिसका अर्थ है रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं। ये कहते हुए इन्होंने काव्य एवं नाट्य में रस के महत्व पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। आचार्य विश्वनाथ ने सभी रसों के मूल में चमत्कार को स्वीकार करते हुए अद्भुत रस को प्रधान रस माना है। इनके अलावा रामचंद्र-गुणचंद्र का नाट्य दर्पण, भानुदत्त का 'रसतरंगिणी' एवं 'रसमंजरी', 'अग्निपुराण, रुद्रभट्ट का 'श्रृंगार तिलक', शारदा तनय का 'भाव प्रकाश' तथा रूप गोस्वामी के 'भक्तिरसामृतसिंधु' एवं 'उज्वल नीलमणी' आदि रस का प्रत्यक्ष चिंतन प्रस्तुत करने वाले ग्रंथ हैं। रूप गोस्वामी ने अपने चिंतन में भक्ति रस को स्थापित किया और उसे एकमात्र रस मानकर उसके भीतर ही बाकी रसों का समावेश करने का प्रयास किया।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए भी रस को ध्वनि के अंतर्गत काव्य के लिए महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। ध्वनि संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आनंदवर्धन ने रसध्वनि के रूप में

---

16. 'रस सिद्धांत' -डॉ. नगेंद्र, नैशनल पबलिकेशन हाउस, दिल्ली, पृष्ठ - 35
17.'रस सिद्धांत' - डॉ. नगेंद्र, नैशनल पबलिकेशन हाउस, दिल्ली, पृष्ठ - 40 (उद्धृत)
18 'साहित्य दर्पण' - विश्वनाथ, शेषराजशर्मा रेग्मी – व्याख्याकार, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ- 24

काव्य में रस को स्थान देते हुए उसे सर्वोच्च काव्यरूप माना है। आनंदवर्धन के बाद प्रमुख ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने भी रसध्वनि को उत्तम काव्य माना है और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के अंतर्गत रस को माना है। मम्मट ने काव्य प्रयोजनों में भी अन्य प्रयोजनों से अधिक काव्यजन्य रसास्वाद के आनंद को श्रेष्ठ बताया है। हेमचंद्र ने अपने ग्रंथ 'काव्यानुशासन' में रस-विवेचन करते हुए कहा है कि काव्य में गुण-दोष, अलंकार आदि को कसने की कसौटी रस ही है। इनके बाद अंतिम ध्वनिवादी आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने 'रस गंगाधर' में रस की वेदांत के आधार पर दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इन्होंने भी काव्य में रसध्वनि को प्रमुख माना और रस को रसध्वनि की आत्मा घोषित किया। इन्होंने रस को आत्मानंद के समान स्थापित किया है। जयदेव, विद्याधर, रुय्यक, अप्पय दीक्षित आदि रस-विवेचन करने वाले प्रमुख ध्वनिवादी आचार्य हैं।

भोजराज को इस क्रम में समन्व्यवादी आचार्य के रूप में देखा जा सकता है। इन्होंने अपने 'श्रृंगार प्रकाश' के 36 प्रकाशों मॆं से 25 प्रकाश रस-विवेचन को ही समर्पित कर दिये। अपने 'सरस्वति कण्ठाभरण' में भी इनका रस संबंधी विवेचन मिलता है। भोजराज ने श्रृंगार रस को सब रसों में प्रमुख मानकर बाकी रसों को उसि के अंतर्गत सिद्ध किया। वक्रोक्ति संप्रदायकार कुंतक ने वक्रोक्ति के अनेक भेदों के अंतर्गत ही रस को स्वीकार किया है। औचित्य सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेंद्र ने भी काव्य का आस्वादनीय तत्व उसके औचित्य को मानते हुए रस को उस आस्वादन को बढ़ाने वाला तत्व माना है। इनके मतानुसार काव्य का प्रण औचित्य है और औचित्य का रस है। इन्होंने औचित्य को रस सिद्ध काव्य का जीवित माना है।

इस प्रकार ये देखा गया है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरत मुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों (चाहे वें रसवादी हो, अलंकारवादि हो, ध्वनिवादिवादि हो या अन्य स्वतंत्र चिंतक हो) ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काव्य में रस को महत्व दिया है।

2.7) रस-निष्पत्ति एवं रस का स्थानः-

भारतीय काव्यशास्त्र का प्राचीनतम सिद्धांत रस सिद्धांत है एवं उसके अंतर्गत सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय है रस-निष्पत्ति। भारतीय काव्यशास्त्र में रस को लेकर विवेचन सर्वप्रथम रस की निष्पत्ति से ही शुरू होती है क्यों कि आचार्य भरत मुनि ने रस की परिभाषा या स्वरूप की व्याख्या न करते हुए उसकी निष्पत्ति का ही उल्लेख सर्वप्रथम किया है-

"तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"[19]

अर्थात विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में प्रयुक्त 'निष्पत्ति' शब्द के अर्थ को समझाते हुए भरत मुनि ने कहा है कि जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव) से संयुक्त होकर स्थायी भाव ही रस रूप को प्राप्त होता है। मगर यहां पर 'रस की निष्पत्ति होना', 'रस बनना', 'रस रूप को प्राप्त होना', ये तीन अलग-अलग प्रयोग हुए हैं। इस सूत्र में उपयुक्त एक और शब्द 'संयोग' का अर्थ स्पष्ट करने के लिए भरत आगे लिखते हैं कि जिस प्रकार व्यंजनों से संस्कृत भोजन को खाकर प्रसन्नचित्त भोक्ता हर्षादि का अनुभव करता है, उसी प्रकार प्रसन्न दर्शक या प्रेक्षक विविध भावों और अभिनयों से युक्य स्थायी भावों का आस्वाद करते हुए हर्षादि का अनुभव करता है। इससे पता चलता है कि संयोग का अर्थ है स्थायी भाव से विभावादि का योग होना या संगम होना। मगर इस व्याख्या के बावजूद इस सूत्र में प्रयुक्त इन दोनों शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं हें और इसलिए ये शब्द परवर्ती आचार्यों के लिए विवाद का विषय बन गये। इसकी व्याख्या करने वाले आचार्यों में चार मुख्य आचार्य हैं जिनके रस-निष्पत्ति के संदर्भ में दिये हुए सिद्धांत गमनार्थक हैं जो निम्नलिखित हैं-

1. **भट्ट लोल्लट का 'उत्पत्तिवाद' -** भट्ट लोल्लट रससूत्र के पहले व्याख्याकार हैं। इन्होंने इस संदर्भ में उत्पत्तिवाद की स्थापना की। ये मीमांसा दर्शन के अनुयायी थे और इसलिए इन्होंने रससूत्र की व्याख्या भी मीमांसा दर्शन के आधार पर ही की है। इनके अनुसार 'संयोग' का अर्थ है संबंध एवं 'निष्पत्ति' का अर्थ है उत्पत्ति। इसलिए इनके द्वारा दिये गये सिद्धांत का नाम है उत्पत्तिवाद। इनके अनुसार विभाव रस के उत्पादक तत्व होते हैं इसलिए विभाव एवं रस के बीच उत्पादक-उत्पाद्य का सम्बंध है, अनुभवों से रस का अनुमान होता है इसलिए

19. नाट्यशास्त्र, संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, षष्टाध्याय, पृष्ठ 228

अनुभाव एवं रस के बीच अनुमापक-अनुमाप्य का संबंध है तथा संचारी भावों से रस की पुष्टि होने के कारण संचारी भाव एवं रस में पोषक-पोष्य संबंध है। इस प्रकार रत्यादि स्थायी भाव विभावों से उत्पन्न होकर अनुभवों से व्यक्त होकर या प्रकट होकर एवं संचारी भावों से पुष्ट होक्कर रस बनते हैं। इनका ये भी मानना है कि विभावादियों (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव) के साथ स्थायी भाव का कार्य-कारण संबंध है। रस की निष्पत्ति के स्थान को लेकर भी मतभेद कुछ कम नहीं हैं। भट्ट लोल्लट का मानना है कि रस ऐतिहासिक पात्रों में या अनुकार्य में ही हुआ करते है। रंगमंच पर अभिनय के संदर्भ में उस रस का आरोप रूप की समानता के कारण सहृदय पात्र या नट पर कर लेता है। इसलिए इसे **आरोपवाद** भी कहते है। बाद के आचार्यों द्वारा इनकी लगभग सभी मान्यताओं की आलोचना की गयी।

2. **भट्ट शंकुक का 'अनुमितिवाद' -** शंकुक ने न्याय दर्शन के आधार पर रस-निष्पत्ति के विषय में अनुमितिवाद नामक सिद्धांत प्रतिपादित किया है। यें नैयायिक थें और इसलिए इनके सिद्धांत का संबंध बौद्धिकता से अधिक नज़र आता है। शंकुक ने निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति से लगाया है। उनके अनुसार रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में विभावादि अनुमापक या अनुमान कराने वाले हैं तथा रत्यादि स्थायी भाव या रस अनुमाप्य या वो हैं जिनका अनुमान किया जाता है। अर्थात दर्शक अभिनेता के कुशल अभिनय को देखकर उस नट में काव्य-निबद्ध पात्रों के रत्यादि स्थायी भावों का अनुमान करता है जबकि नट में वो भाव होते भी नहीं हैं क्यों कि नट दुष्यंत, राम आदि पात्रों की वेशभूषा का अनुकरण तो कर सकता है मगर उनके स्थायी भावों का नहीं। इसी अनुमान से दर्शक नट को दुष्यंतादि नायक मानकर आनंदित होते हैं और ये आनंद ही रस है। नटों के द्वारा अनुकार्यो (राम, सीता आदि) का कुशल अभिनय के शंकुक के मतानुसार तीन चरण होते हैं-

   क. काव्यानुशीलन- काव्य के अनुशीलन के द्वारा विभाव उपस्थापित होते हैं।
   ख. अभिनय कला की शिक्षा- नट की अभिनय की शिक्षा एवं अभ्यास पर अनुभाव निर्भर होते हैं।
   ग. लोकानुभव- इस भौतिक जगत के कृत्रिम अनुभवों के अर्जन द्वारा व्यभिचारी भावों का कुशल अभिनय साध्य है।

इन तीनों तत्वों के समावेश से नट अनुकार्य का इतनी कुशलतापूर्वक अभिनय करता है कि दर्शक वैसे ही उनमें दुष्यंतादि का अनुमान कर लेते हैं, जैसे रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम हो जाया करता है। केवल अनुमिति के बल पर रसानुभूति के लिए शंकुक ने दर्शकों के पूर्वानुभवजन्य संस्कारों को मूल कारण बताया है। अनुमिति की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए

इन्होंने ‘चित्र तुरंगन्याय’ का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार भित्ति पर बने हुए अश्व के चित्र को देखकर उसमें असली अश्व का आभास या अनुमान होने लगता है, उसी प्रकार नटों में ऐतिहासिक पात्रों की अनुमिति होती है। इस अनुमान में ही आनंद की अनुभूति होति है। चित्र में अश्व को देखने से पांच प्रकार के ज्ञान होते हैं- निश्चित ज्ञन- यह अश्व है, मिथ्या ज्ञन- यह अश्व नहीं है, संशय ज्ञन- यह अश्व है या नहीं, सादृश्य ज्ञन- यह अश्व का चित्र अश्व जैसा ही है एवं अनुमान ज्ञन- चित्रांकित अश्व को देखकर उसकी चाल आदि का अनुमान करके आनंदित होना। इसी प्रकार नाट्य में भी नट के कुशल अभिनय को देखकर इन पंचों ज्ञानों का आभास होता है और अंत में पांच्वे स्तर पर दर्शक रंगमंच पर दुष्यंतादि का अनुकरण करने वाले नट को दुष्यंतादि मान लेते हैं और उनमें ऐतिहासिक दुष्यंतादि पात्रों के रत्यादि स्थायी भावों एवं रसों की अनुमिति भी कर लेते हैं। भट्ट लोल्लट के समान इन्होंने भी ये माना है कि रस का स्थान काव्य-निबद्ध पात्रों में होता है, नटों या दर्शकों में नहीं। आशय यह है कि भट्ट शंकुक के अनुसार रस सामाजिकों का एक प्रकार का आनंद है जिसका आधार अनुमान है।

शंकुक की इस व्याख्या का विरोध किया गया और ये कहा गया कि अनुमान बुद्धि का विषय है जबकि रसानुभूति हृदय का। जिस प्रकार धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान तो कर लिया जा सकता है मगर उस अग्नि की गर्मी का अनुभव नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार रसानुभूति का संबंध भी बौद्धिकता से नहीं हो सकता। भट्ट तौत ने शंकुक के चित्र तुरंगन्याय के विषय में कहा है कि चित्र में अश्व को देखकर, उसे अश्व मानकर भी आप उस अश्व की सवारी नहीं कर सकते। अतः अनुमान के आधार पर रस-निष्पत्ति पर विचार करना समीचीन नहीं प्रतीत होता। इन विमर्शों के बावजूद शंकुक के सिद्धांत की कुछ उपलब्धियाँ भी हैं जैसे रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में सामाजिक को इन्होंने उचित महत्व देने का प्रयास किया।

3. **भट्ट नायक का ‘भुक्तिवाद’ -** भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण की प्रक्रिया के उद्भावक भट्ट नायक के ‘भुक्तिवाद’ का रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को व्याख्याहित करने में महत्वपूर्ण योगदान है। भट्ट नायक ने अपने जिस ग्रंथ में ‘भुक्तिवाद’ को प्रस्तुत किया है वह ‘हृदय दर्पण’ अभी अनउपलब्ध है। इसलिए इनके मत की जानकारी मम्मट एवं अभिनव गुप्त के उद्धरणों से ही मिलती है। इन्होंने सांख्य दर्शन के आधार पर रस-निष्पत्ति की मौलिक व्याख्या की है। भट्ट नायक ने अपने पूर्ववर्ती भट्ट लोल्लट व भट्ट शंकुक के मत, क्रमशः ‘उत्पत्तिवाद’ एवं ‘अनुमितिवाद’, का खंडन किया है। ये कहते हैं कि काव्य-निबद्ध या नाट्य-निबद्ध ऐतिहासिक पात्र में या नट-नटि में न तो रस की उत्पत्ति होती है न ही रस की अनुमिति होति है। इन्होंने पहली बार ये प्रतिपादित किया है कि रस की निष्पत्ति असल में सहृदय

सामाजिक में ही होती है जो सर्वथा नवीन प्रतिपादन है। अभिनव गुप्त ने भी रस का स्थान सामाजिक या दर्शक में ही माना है मगर भट्ट नायक अभिनव गुप्त के 'अभिव्यक्ति' शब्द से असहमत हैं। इनका कहना है कि अभिव्यक्ति पहले से विद्यमान वस्तु की होति है और रस कोई पहले से विद्यमान चीज़ नही है वह तो मात्र अनुभव काल में अनुभूत होता है। भट्ट नायक ने संयोग का अर्थ भोज्य-भोजक-भाव संबंध एवं निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति किया है। इन्होंने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को तीन चरणों में विभाजित किया है-

क. **अभिधा** – 'अभिधा' एक शब्द शक्ति है जो शाब्दिक अर्थ का सूचक है। काव्यास्वाद में अभिधा से तात्पर्य है कि सर्वप्रथम पाठक या दर्शक काव्य या नाट्य का अर्थ बोध करते हैं। काव्य या नाट्य के भाषाज्ञान के अभाव में उसका आस्वादन असंभव है। हालाँकि नाट्य में अभिनय के माध्यम से यह कुछ हद तक संभव हो सकता है। उदाहरण स्वरूप संस्कृत भाषा से अपरिचित व्यक्ति के सामने कालिदास के सुमधुर काव्यों का पाठन भी उस पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाता। रसास्वाद के लिए काव्य या नाट्य के शब्दार्थ में दोष का अभाव होना चाहिए।

ख. **भावकत्व** – अभिधा से काव्य या नाट्य का अर्थ ग्रहण कर लेने के बाद उसके भौतिक अर्थ से ऊपर उठकर उसे हृदयांग कर उसका भावन करना भावकत्व कहलाता है। इस स्थिति में दर्शक या पाठक आनंदानुभूति करने लगता है। यही स्थिति है जिसे भट्ट नायक ने **साधारणीकरण** कहा है। साधारणीकरण की स्थिति वो होती है जब पात्र राम-सीता विशेष से सामान्य बन जाते हैं। रामादि पात्र रामादि न होकर साधारण पुरुष बन जाते हैं। इस स्थिति में न केवल पात्र अपितु दर्शकों के व्यक्तिगत भाव भी व्यक्तिगत न रहकर सामान्य हो जाते हैं। वह ममत्व-परत्व के भावों से, देश-काल के बंधनों से मुक्त हो जाता है और इन सब से ऊपर उठकर तन्मयता की स्थिति में रसास्वाद के सक्षम हो जाता है। ऐसी स्थिति में सीता का शोक मात्र सीता का या मात्र दर्शक या पाठक का न रहकर सम्पूर्ण मानव समाज के शोक में परिणत हो जाता है।

ग. भोजकत्व – इस तरह भावकत्व के व्यापार के द्वारा काव्य या नाट्य सामग्री का साधारणीकरण हो जाने के बाद एवं सहृदय सामाजिक का निजि राग-द्वेष के बंधनों से मुक्त हो जाने के बाद सामाजिक के हृदय में जगे स्थायी भाव भावित होकर रस में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार स्थायी भाव का भावित हो जाना ही रस-निषपत्ति है। सामाजिक इस भावित रस का निर्वैयक्तिक होकर भोग करने लगता है और इसलिए

इसे भोजकत्व व्यापार कहा गया है। रसास्वाद की इस प्रक्रिया में सहृदय सामाजिक का हृदय रजोगुण व तमोगुण से मुक्त होकर सत्व के उद्रेक की स्थिति में होता है। इस स्थिति में मन की चित्तवृत्तियाँ शांत हो जाती हैं और यही आनंद की अनुभूति का कारण है। सत्व के उद्रेक से मन राग-द्वेष से मुक्त होकर तटस्थ हो जाता है। इस तटस्थता की स्थिति में साधारणीकरण की प्रक्रिया संपन्न हो जाती है जिससे रसास्वाद की प्रक्रिया संभव हो पाती है। इसलिए रसास्वाद की स्थिति में सहृदय सामाजिक का मन सत्वप्रधान हो जाता है। इस स्थिति में जो आनंदानुभूति होती है वह अलौकिक होती है तथा इस अलौकिक आनंद को भट्ट नायक ने ब्रह्मानंद सहोदर कहा है। दोनों मे अंतर यही है कि ब्रह्मानंद शाश्वत होता है जबकि काव्यानंद सामयिक।

भट्ट नायक के भुक्तिवाद की आलोचना अभिनव गुप्त ने इस आधार पर की है कि काव्य में जिस भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापारों का उल्लेख इसमें किया गया है वह इससे पहले कहीं भी उल्लिखित नहीं हैं तथा इसलिए निराधार हैं। साथ ही भावकत्व का जो आशय है वही व्यंजना का भी है एवं भोजकत्व तो स्वयं रस-निष्पत्ति है। अभिनव गुप्त ने इन दोनो व्यापारों को व्यंजना के अंतर्गत समाहित कर दिया। इन्होंने भट्ट नायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को स्वीकार किया है।

4. **अभिनव गुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' -** अभिनव गुप्त ने रस-निष्पत्ति में उत्पत्ति, अनुमिति एवं भुक्ति का खंडन करते हुए अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की। इन्होंने शैवाद्वैत दर्शन के आधार पर रस-निष्पत्ति का ये सिद्धांत दिया है। अभिनव गुप्त ने भरत मुनि प्रणीत रससूत्र के 'संयोग' शब्द का अर्थ व्यंज्य-व्यंजक माना है एवं 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति। अभिनव गुप्त ने रसास्वाद की प्रक्रिया में व्यंजना व्यापार को महत्वपूर्ण माना। भट्ट नायक की ही तरह अभिनव गुप्त भी रस की स्थिति सहृदय सामाजिकों में मानते हैं और कहते हैं कि भरत मुनि ने भी इसी ओर संकेत किया है। अभिनव गुप्त कहते हैं कि हर मनुष्य में वासना या संस्कार रूप में जन्मजात कुछ मनोभाव होते हैं जिन्हें काव्य की भाषा में स्थायी भाव कहते हैं तथा ये स्थायी भाव काव्य या नाट्य में वर्णित विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव आदि से व्यंजित होते हैं और रस-निष्पत्ति होती है। अर्थात सामाजिक अपनी जन्मजात वासनाओं या संस्कारों के कारण ही रसास्वाद कर पाता है तथा इन संस्कारों की प्रबलता उस सामाजिक के रसास्वाद की गहराई को तय करती है। इस प्रक्रिया को समझाते हुए इन्होंने उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार नये घड़े पर पानि छिड़कने से उसमें छिपी गंध प्रकटित हो जाती है। ये गंध न तो पानि

में होती है न कहीं और से आती है। ये गंध घड़े में ही प्रसुप्त अवस्था में होती है जो पानी के छिड़कने से ही जागृत हुई है, इसी प्रकार स्थायी भाव जो संस्कार रूप में मानव-मन के अंदर विद्यमान रहते हैं वे विभावादि से व्यंजित होकर रस-रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इस अभिव्यक्ति के लिए सहृदय सामाजिक के मन में विद्यमान वासना-रूपी संस्कारों का होना जितना आवश्यक अभिनव गुप्त ने माना है उतना ही महत्वपूर्ण काव्य या नाट्य के कलात्मक एवं सौंदर्यात्मक प्रस्तुति को भी माना है। इन दोनों के साथ रस-विघ्नों के अभाव की स्थिति को भी इन्होंने रसास्वाद के लिए आवश्यक माना है। अभिनव गुप्त ने सहृदय की दृष्टि कुल 7 रस-विघन बताये हैं। हर तरह से अनुकूल परिस्थिति में मनोवेगों के अभिव्यक्त होते ही सहृदय सामाजिक को अलौकिक आनंद की अनुभूति होती है। इन्होंने भी भट्ट नायक के समान रसास्वाद को ब्रह्मानंद सहोदर स्वीकार किया है।

अभिनव गुप्त का मत शैवाद्वैत दर्शन पर आधारित होते हुए भी मनोविज्ञान सम्मत है। इसलिए इनका परिपूर्ण एवं सूक्ष्म अध्यान इनके परवर्ती आचार्यों में सर्वमान्य रहा। धनंजय, मम्मट और विश्वनाथ का रस-निष्पत्ति संबंधित विवेचन इसके उदाहरण हैं। अभिनव गुप्त की ही तरह धनंजय भी सहृदय के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायी भावों का ही नाटक के दर्शन या काव्य के पठन से रसत्व को प्राप्त करने की बात करते हैं मगर अभिनव गुप्त से उनका चिंतन पृथक इस मायने में है कि वें रस-निष्पत्ति में व्यंजना को न मानकर तात्पर्य वृत्ति का ही अस्तित्व स्वीकार करते हैं। विश्वनाथाचार्य ने रस-निष्पत्ति का अर्थ दूध से दही के समान परिणति माना है। आचार्य मम्मट के रस-निष्पत्ति संबंधी व्याख्या को डॉ. उषा शुक्ला ने अभिनव गुप्त के ही सिद्धांत की पुनः प्रतिष्ठा कहा है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इस संदर्भ में अभिनव गुप्त से भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते हुए रस-निष्पत्ति को 'भग्नावरण चिद् विशिष्ट' कहा है। वेदांत पर आधारित इनके ये विचार कहते हैं कि सामाजिक का मन अज्ञान के आवरण से आच्छादित रहता है और यह आवरण नाटक के दर्शन से भग्न हो जाता है। इस स्थिति में काव्यबद्ध या नाट्यबद्ध दुष्यंत-शकुंतला की रति पर आवरण पड़ जाता है और एक नयी अनिर्वचनीय रति की सृष्टी होती है जो सामाजिकों के मन को व्याप्त कर लेती है। यही रति स्थायी भाव आत्मा के प्रकाश में रस-रूप में परिणत हो जाता है।

रस की सर्वप्रथम वैज्ञानिक व्याख्या करने का श्रेय अभिनव गुप्त को ही प्राप्त है जबकि डॉ. नगेंद्र भरत मुनि के रससूत्र की सबसे करीब व्याख्या भट्ट लोल्लट की बताते हैं।

इन चारों व्याख्याकारों ने अपने-अपने सिद्धांतों में रस के स्थान को लेकर अलग-अलग मत प्रस्तुत किये हैं। इन चारों सिद्धांतों की मुख्य उपलब्धियों को बिंदु-रूप में निम्न तालिका में देखा जा सकता है

व्याख्याकार	**सिद्धांत**	**आधारभूत दर्शन**	**रस-निष्पत्ति का स्थान**
भट्ट लोल्लट	उत्पत्तिवाद	मीमांसा दर्शन	अनुकार्य में
भट्ट शंकुक	अनुमितिवाद	न्याय दर्शन	काव्य-निबद्ध पत्रों में
भट्ट नायक	भुक्तिवाद	सांख्य दर्शन	सहृदय सामाजिक में
अभिनव गुप्त	अभिव्यक्तिवाद	शैवाद्वैत दर्शन	सहृदय सामाजिक में

वास्तव में यह प्रश्न इन चारों तक ही सीमित नहीं रहा। रस सिद्धांत से जुड़े प्रश्नों में से ये सबसे बड़ा प्रश्न है कि वास्तव में रस की निश्पत्ति किसमें होती है तथा उसकी स्थिति कहां होती है। कवि या कथाकार में होती है या काव्य या कथा में होती है या उसके पात्रों में होती है (नाट्य या सिनेमा के संदर्भ में) या सहृदय सामाजिक में होती है। इस सवाल के जवाब में संस्कृत व हिंदी के अनेक विद्वानों ने अनेक मत प्रस्तुत किये। किसी ने अनुकार्य में रस की स्थिति मानी तो किसी ने रस का स्थान सहृदय सामाजिकों में बताया। मेरे उद्देश्य में रस तीन स्तरों पर कवि या कथाकार में भी होता है जिसे वो अपनी अभिव्यक्ति में ड़ालता है, अभिनेता में भी होता है जिसे वो सामाजिकों के सामने अभिनीत करते हैं तथा सहृदय सामाजिकों के हृदय में भी होता है। क्यों कि जब तक कथाकार स्वयं उस रस का अनुभव नहीं करता जिसका अनुभव वह अपने सामाजिकों को कराना चाहता है तब तक वह सामाजिकों में वो रस जगाने में सफल नहीं हो सकता। नाटक या सिनेमा के संदर्भ में भले ही कथा कितनी भी अच्छी व रसात्मक क्यों न हो जब तक अभिनेता अपने किरदार में घुस नहीं जाते और उन रसों का स्वयं अनुभव नहीं करते जिनका अनुभव वे अपने दर्शकों को कराना चाहते हैं तब तक अपने दर्शकों को रसास्वादन कराने में सफल नहीं हो पाते। तीसरे स्तर पर सहृदय सामाजिकों के हृदय में भी रस निष्पत्ति होती है।

2.8) साधारणीकरण एवं रस का महत्व:-

साधारणीकरण भारतीय काव्यशास्त्र का विश्व को एक अमूल्य देन है। भट्ट नायक ने अपने रस-निष्पत्ति के विवेचन के संदर्भ में इसका प्रतिपादन किया है। साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है किसी असाधारण वस्तु का साधारण या सामान्य हो जाना। काव्य में इस शब्द का प्रयोग भावों के संदर्भ में हुआ है। वैसे तो साधारणीकरण के प्रणेता भट्ट नायक हैं किंतु इस अवधारणा के बीज भरत मुनि के यहां ही मिलते हैं जिनको सिद्धांत रूप बाद में भट्ट नायक ने दिया। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में 'एश्यश्च सामान्यगुणयोगेन रस निष्पद्यंते।' कहा है जिसका अर्थ है जब इन भावों को सामान्य या साधारण रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तब रसों की निष्पत्ति होती है। यहां देखा जा सकता है कि भरत मुनि ने सामान्य गुण को रस-निष्पत्ति के आधार के रूप में स्वीकार किया है।

इससे यह समझ में आता है कि रसास्वाद के संदर्भ में साधारणीकरण का अर्थ है किसी काव्य या नाट्य के विष्य-वस्तु से अवगत हो जाने के बाद उसके पाठक या दर्शक का ममत्व एवं परत्व से ऊपर उठकर, देश-काल के बंधनों से मुक्त होकर तादात्मय की स्थिति में पहुँच जाना। इस स्थिति में साधारणीकृत रस का आस्वादन संभव होता है। इस प्रक्रिया को साधारणीकरण कहा गया है। डॉ. नगेंद्र ने साधारणीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है कि-

''साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के पठन द्वारा पाठक या श्रोता का सामान्य भूमि पर पहुँच जाना।''[20]

किसी भी काव्य या नाट्य के पाठक या दर्शक के मन में स्वाभाविक रूप से सर्वप्रथम उठने वाले प्रश्न हैं- काव्य-निबद्ध या नाट्य-निबद्ध पात्र रामादि से हमारा क्या संबंध है, बिना किसी संबंध के व देश-काल की भिन्नता होने के बावजूद उनके भाव काव्य या नाट्य में वर्णित होकर हमारे आस्वाद का विषय कैसे बनते हैं? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर है साधारणीकरण। काव्यगत या नाट्यगत अनुभूतियाँ जब व्यक्ति-विशेष तक सीमित न रहकर सर्व साधारण हो जाती हैं उस अवस्था को साधारणीकरण कहते हैं। ऐसी स्थिति में राम-सीता के प्रेम प्रसंग में राम राम नहीं रह जाता, सीता सीता नहीं रह जाती एवं दर्शक या पाठक भी अपने व्यक्तिगत रागद्वेश से मुक्त हो जाता है और रह जाता है तो केवल एक सामान्य पुरुष व स्त्री का प्रेम जो निर्वैयक्तिक होकर आस्वाद का विषय बनता है।

भरत मुनि के इस बीजारोपण के बाद भट्ट नायक से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने साधारणीकरण पर विचार किया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी ऐसी कई

20. 'भारतीय काव्यशास्त्र'- डॉ .उषा शुक्ल, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल, पृष्ठ- 80 (उद्धृत)

अवधारणाएँ देखने को मिलती हैं जो साधारणीकरण सिद्धांत के निकट हैं, जैसे अरस्तू की सार्वजनीनता की अवधारणा, टी. एस. इलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत आदि मगर उनमें कोई भी साधारणीकरण सिद्धांत जितना सर्वांग, संपूर्ण एवं सम्यक नहीं जान पड़ता। संस्कृत काव्यशास्त्र भारतीय काव्यशास्त्र का आधार है और इसलिए संस्कृत काव्यशास्त्र के तर्ज पर हिंदी, मराठी, कन्नड़, बंगला आदि अनेक भाषाओं में इस विषय पर विस्तृत विचार-विमर्श हुआ है। साधारणीकरण पर उसके प्रतिपादक आचार्य भट्ट नायक से लेकर उनके परवर्ती अन्य संस्कृत आचार्यों के मतों में से कुछ मुख्य मत निम्नलिखित हैं-

क. भट्ट नायक - भरत मुनि द्वारा बोए गये साधारणीकरण के बीज को सिद्धांत-रूप देने का श्रेय भट्ट नायक को ही प्राप्त है। इन्होंने इस संदर्भ में लिखा है कि-

"विभावादिसाधारणीकरणात्मना xxxxx भावकत्वव्यापारेणभावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः xxxx भोगेन परं भुज्यत इति।"[21]

अर्थात विभावादि के साधारणीकृत रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा स्थायी भाव रूप रस को भाव्यमान करते हैं जो भोजकत्व व्यापार द्वारा आस्वादित होते हैं। यें मानते हैं कि साधारणीकरण विभावादि (विभाव- आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी भाव) का होता है और यह प्रक्रिया भावकत्व का प्राण है या दोनों में अधिक अंतर नहीं है। यह साधारणीकरण व भावकत्व, अर्थात स्थायी भाव का भाव्यमान होकर रस रूप में परिणत होना, रसास्वाद के पूर्व की प्रक्रियाएँ हैं एवं उस रसास्वाद की प्रक्रिया को भट्ट नायक ने भोजकत्व कहा है।

ख. भट्ट तौत- भट्ट तौत के अनुसार नायक का साधारणीकरण होता है। उनका कथन है-

"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।"[22]

जिस दौर में भट्ट तौत लिख रहे थें तब नाटकों के नायकों के चित्रण के नियम होते थे। नायक उदात्त व विशिष्ट गुणों वला ही हुआ करता था और इसलिए उनका ये कथन कि साधरणीकरण नायक के साथ होता है यह उस काल के अनुकूल प्रतीत होता है । मगर आधुनिक युग में यह अवधारणा प्रासंगिक नहीं लगती जब ऐसे नायकों का चित्रण भी होने लगा है जिनका साधारणीकरण होना कठिन काम है।

21. 'रस सिद्धांत - डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ- 193 (उद्धृत)

22. 'भारतीय काव्यशास्त्र'- उषा शुक्ल, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल, पृष्ठ- 82 (उद्धृत)

ग. अभिनव गुप्त - इन्होंने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में जो विभावादि के साधारणीकरण की बात भट्ट नायक ने की उसमें अपने मतानुसार कुछ परिवर्तन कर उसे और अधिक व्यापक एवं विस्तृत धरातल पर प्रतिष्ठित किया। काव्य या नाट्य में भट्ट नायक द्वारा प्रतिपादित विभावादि के साधारणीकरण के बाद आश्रय में जागृत स्थायी भाव देश-काल के बंधनों से, हर प्रकार के व्यक्ति संसर्गों से, लौकिक सुख-दुःख आदि की चेतना से मुक्त हो जाता है। स्थायी भावों की ये मुक्तावस्था स्थायी भावों का साधारणीकरण कहलाती है। अर्थात अभिनव गुप्त आश्रय, विभाव (आलंबन, उद्दीपन), अनुभाव , संचारी भाव के साथ-साथ स्थायी भावों का भी साधारणीकरण मानते हैं तथा इस स्थायी भाव के साधारणीकरण को ही काव्य या नाट्य में साधारणीकरण का सार स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त साधारणीकरण को लेकर अभिनव गुप्त का एक और मैलिक प्रतिपादन ये है कि उनके अनुसार साधारणीकरण सामूहिक क्रिया है। इसमें किसी एक सामाजिक के भाव मुख्य या गौण नहीं होते अपितु सभी सहृदय सामाजिकों को एक समान ममत्व व परत्व के भावों से मुक्ति मिलती है तथा समस्त सामाजिक एकाग्रचित्त होकर मुक्त भाव का अनुभव सामूहिक रूप से करते हैं। एक उदाहरण के माध्यम से इनके साधारणीकरण की अवधरणा को समझने का प्रयास करें तो राम-सीत के प्रणय-प्रसंग में आश्रय रूपी राम राम विशेष न रहकर एक साधारण रति-मुग्ध पुरुष बन जाता है,आलंबन रूपी सीता एक सामान्य कामिनी बन जाती है, राम के पुलक आदि अनुभाव सामान्य रति-मुग्ध पुरुष की चेष्टाएँ हो जाती हैं व राम के हर्षादि संचारी भाव भी सामान्य हो जाते हैं। इस तरह इन मूर्त रसावयवों के साधारणीकरण से भावित हुआ स्थायी भाव- रति का संबंध भी राम, सीता, सहृदय सामाजिक आदि विशेष से न रहकर व्यक्ति संसर्गों से मुक्त हो जाता है। इनके द्वारा प्रतिपादित विभावादि के साथ स्थायी भाव का साधारणीकरण इनके परवती आचार्यों में सर्वथा मान्य दिखायी देता है।

घ. विश्वनाथ - आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य दर्पण' में साधारणीकरण संबंधी अपने मत प्रस्तुत किये। इन्होंने भी अभिनव गुप्त की तरह विभावादि के साथ स्थायी भाव का भी साधारणीकरण स्वीकार किया है किंतु इस साधारणीकरण का फल इनके अनुसार सहृदय सामाजिक का काव्य या नाट्य के आश्रय के साथ तादात्मय स्थापित कर लेना है। राम-सीता के पुष्प वाटिका प्रसंग में राम आश्रय हैं, इनका साधारणीकरण होता है तो सहृदय सामाजिक राम को राम न मानकर एक साधारण पुरुष मान लेता है किंतु तादात्मय की स्थिति में वह उसे एक साधरण पुरुष न मानकर अपने को ही राम समझकर उससे एकाकार हो जाता है। विश्वनाथ कहते हैं कि ये तादात्मय सामान्य आश्रय के साथ ही नहीं अलौकिक कर्म करने वाले आश्रय

या दैवीय आश्रय के साथ भी हो सकता है। उदाहरण स्वरूप सहृदय सामाजिक अलौकिक आश्रय हनुमान के साथ भी तादात्मय स्थापित कर सकता है तथा इससे समुद्रलंघन का उत्साह भी ले सकता है।

मगर विश्वनाथ का ये तादात्मय सिद्धांत मान्य नहीं है और इसका कारण ये है कि 'तादात्मय' दर्शनशास्त्र का शब्द है जिसका प्रयोग जीवात्मा-परमात्मा के विलीन होने की स्थिति के लिए किया जाता है। काव्य में तादात्मय के मान लेने से आश्रय के शोकमग्न विलाप के क्षणों में उससे तादात्मय स्थापित कर चुके सहृदय सामाजिक को भी शोकमग्न हो जाना चाहिए मगर रस की परिणति आनंद है। अतः काव्य में 'तादात्मय' कहना उचित नहीं होगा। इस स्थिति के लिए काव्यशास्त्र का एक शब्द है 'वेद्यांतर स्पर्श शून्य' जिसका उल्लेख विश्वनाथ ने रस का स्वरूप निर्धारण करते समय किया है।

ङ. पण्डितराज जगन्नाथ - संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने आचार्य विश्वनाथ की ही तरह पाठक या दर्शक का आश्रय के साथ तादात्मय तो स्वीकार किया है किंतु इनके अनुसार ये तादात्मय एक ऐसे भावना दोष के कारण है जिससे सामाजिकों की आत्मा कल्पित दुष्यंतादि में आच्छादित हो जाती है। इस दोष के कारण सामाजिक अपने को दुष्यंत समझने लगते हैं तथा इस आच्छन्न में शकुंतला विषयक रति भी भासित होने लगती है। इसे एक उदाहरण के माध्यम से समझाते हुए जगन्नाथ कहते हैं कि जैसे चायचिक्यदोष के कारण सीपी के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होते हैं, वैसे ही दुष्यंत, शकुंतला आदि की रति का कल्पित आभास सामाजिक को होता है, वह भाव वास्तविक रूप में सामाजिक में ठीक वैसे ही नहीं होता, जैसे सीपी में चाँदीपन नहीं होता। पण्डितराज जगन्नाथ का साधारणीकरण संबंधी ये व्याख्या काव्यशास्त्रीय दृष्टि से दी हुई नहीं है अपितु उनके वेदांत पर आधारित दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिफल है।

इनके अतिरिक्त भी कई विद्वानों ने इस क्रम में विवेचन किया जैसे भट्ट तौत ने काव्य या नाट्य में नायक का साधारणीकरण माना है। धनंजय ने भी भट्ट तौत की तरह नायक के साधरणीकरण को स्वीकार किया है। इनकी व्याख्या का महत्व यह है कि इन्होंने पहली बार साधारणीकरण में कवि-तत्व का स्पष्ट उल्लेख किया है। आज अभिनव गुप्त द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण सिद्धांत ही प्रायः सर्वमान्य है। रस इस प्रकार सामाजिकों को सामान्य धरातल पर लेजाकर सामाजिक के चित्त को निर्मल बनाती है तथा यही उस सामाजिक में मानवीय गुणों से युक्त उदात्त स्वभाव का निमित्त है। इस प्रकार मनुष्य का उदात्तीकरण रस की परम उपयोगिता व उसका महत्व है

2.9), अंगीरस व अंगभूत रसः-

अंगीरस के विषय में सर्वप्रथम संकेत भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में ही मिलते हैं-

"बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।

स मनतव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः।।"[23]

अर्थात महाकाव्य में वर्णित अनेक रसों में से जो बहु, अधिक या प्रधान रूप से विद्यमान रहता है वह रस स्थायी या अंगी तथा शेष रस संचारी या अंगभूत रस होते हैं। इनके बाद इस प्रश्न पर विधिवत् विचार आनंदवर्धन के पास मिलता है। वें लिखते हैं कि-

"प्रसिद्धेंपि प्रबंधानां नानारसनिबंधनो।

एको रसोंगी कर्तव्य।।"[24]

अर्थात प्रबंधों में अनेक रसों का समावेश प्रसिद्ध होने के बावजूद किसी एक रस को अंगीरस अवश्य बनाना चाहिए। इस संदर्भ में यह प्रशन उठाया गया कि रस तो वही होता है जो स्वयं चमत्कार रूप है। ऐसे में एक रस अंगी यथा अधिक चमत्कृत व दूसरा विश्रांत रूप में कैसे हो सकता है। इसका उत्तर देते हुए आनंदवर्धन ने कहा है कि इसमें कोई संदेह नहीं कि रस स्वचमत्कृत होता है तथा काव्य में हर रस अपने प्रसंग में पूर्ण परिपोष होकर स्वचमत्कार में ही विश्र्रांति लाभ करता है किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य रसों के साथ उसका कोई संबंध ही न हो। प्रबंध काव्य की विशिष्टता ही अनेक रसों का समावेश है तथा इसमें स्वाभाविक रूप से ही किसी एक रस का वर्णन अधिक व दूसरे का कम होता है।

जीवन के सर्वांग चित्रण के कारण प्रबंधकाव्य में जिस तरह अनेक कथाओं के होते हुए भी एक कथा की अधिकारिकता अवश्य होती है, अनेक घटनाओं के होते हुए भी समस्त कथा-विधान की परिणति एक घटना में ही होती है, अनेक पात्रों के बावजूद एक नायक का होना आवश्यक है, उसी तरह रस भी अनेक होने के बावजूद किसी एक रस का अंगी होना भी अनिवार्य है जिसके लक्षण काव्य में बहुव्याप्ति तथा मुख्य पात्र (नायक या नायिका) की मूलवृत्ति का प्रतिफलन हैं।

24. 'रस सिद्धांत' - डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ – 283(उद्धृत)
25. 'रस सिद्धांत' - डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ – 283 (उद्धृत)

2.10). रसों का परस्पर विरोध:-

सामान्यतः मनुष्य के हृदय में एक समय पर एक ही प्रकार की चित्तवृत्तियाँ रह सकती हैं। इस आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्र में रसों के पारस्परिक संबंधों (विरोध-अविरोध आदि) पर रोचक विवेचन किया गया है जिनका काव्यास्वादन प्रक्रिया के साथ घनिष्ठ संबंध है। इसलिए इनके विवेचन द्वारा रसास्वादन की अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

विरोधी रस - रसों के परस्पर विरोध-अविरोध के प्रश्न पर आचार्य भरत मुनि ने संकेत तो किये हैं मगर कहीं इस विषय का स्पष्ट विवेचन नहीं किया। भरत के बाद के आचार्यों में भी रुद्रट तक किसी ने इस विषय पर विशेष ध्यान नहीं दिया। ध्वन्याकोककार आनंदवर्धन के यहां इस विषय को लेकर सर्वप्रथम विवरण मिलता है। इनके बाद इनके दिये हुए संकेतों का आधार लेते हुए परवर्ती आचार्यों इस विषय का पल्लवन किया जैसे आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ। इन सबके विवेचन के सार रूप में विरोधी रस निम्नलिखित हैं-

रस		विरोधी रस
1. श्रृंगार	-	करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक, शांत
2. हास्य	-	करुण, भयानक, रौद्र, शांत
3. करुण	-	हास्य, श्रृंगार
4. रौद्र	-	हास्य, श्रृंगार, भयानक, शांत
5. वीर	-	भयानक, शांत, श्रृंगार
6. भयानक	-	श्रृंगार, वीर, रौद्र, हास्य, शांत
7. वीभत्स	-	श्रृंगार
8. शांत	-	वीर, श्रृंगार, रौद्र, हास्य, भयानक

सभी रसों में अद्भुत रस एकमात्र ऐसा रस है जिसका किसी के साथ विरोध नहीं है एवं ये रस सबका मित्र रस है। इस रस का उपयोग दो विरोधी रसों के बीच सेतु के रूप में भी किया जा सकता है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों के मतानुसार रस विरोध के तीन आधार हैं- विभाव ऐक्य या आलंबन ऐक्य, आश्रय ऐक्य एवं नैरंतर्य (दो रसों का तुरंत एक के बाद एक का वर्णन करना

इन विरोधी रसों के परिहार का भी उल्लेख सर्वप्रथम आनंदवर्धन ने ही किया है-

"विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।

बाध्यनामंभावं बा प्राप्तानामुक्तिरच्छला।।"[25]

अर्थात अभीष्ठ का परिपादक हो जाने पर बाध्य रूप से एवं अंग रूप से विरोधी रसों में भी रस भंग नहीं होता। यहां बाध्यरूपता का अर्थ है विरोधी रस से ज़्यादा प्रबल रूप से मुख्य रस के अंगों का वर्णन करना जिससे वह विरोधी रस मुख्य रस का अपकर्ष न कर उत्कर्ष ही करता है। उदाहरण स्वरूप कादंबरी में महाश्वेत के प्रति रति भाव रखने वाले पुण्डरीक के भाव इतने प्रबल होते हैं कि दूसरे मुनिकुमार द्वार दिये गये उपदेश में प्रदर्शित शांत रस के अंग मुख्य रस श्रृंगार के अंगों से बाधित हो जाते हैं और रति स्थिर रहती है। अंगरूपता का अर्थ है मुख्य रस का विरोधी रस के साथ अंगांगी संबंध स्थापित करना। अर्थात विरोधी रसों में कुछ रस ऐसे होते हैं जो सहानवस्थान भाव से है यथा ये दोनों साथ तो रह सकते हैं किंतु दोनों का समान उत्कर्ष नहीं किया जा सकता। ये तीन परिहार बिंदु-रूप में नेम्नलिखित हैं-

1. दो विरोधी रसों के बीच अद्भुत रस के तत्वों का समावेश करना क्यों कि अद्भुत रस का अन्य किसी रस के साथ विरोध नहीं होता है।
2. मुख्य रस के साथ बाध्य रूप से विरोधी रस का वर्णन किया जाये।
3. मुख्य रस के साथ अंगरूप से विरोधी रस का वर्णन किया जाये ।

रसों मे परस्पर विरोध ही नहीं मैत्री भी है और ये मित्र रस हैं-

1. वीर, अद्भुत व रौद्र. 2. श्रृंगार व अद्भुत, 3. भयानक व वीभत्स।

23. 'रस सिद्धांत' - डॉ. नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ – 278 (उद्धृत)

2.11) <u>रस-दोष व रसाभास:-</u> रसास्वाद में बाधा ड़ालने वाले तत्व ही रस-दोष या रस-विघ्न कहलाते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में रसदोषों पर कवि एवं सहृदय दोनों की दृष्टि से विचार किया गया है। ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन ने कवि की दृष्टि से रसदोषों के पाँच कारण माने हैं –

1. विरोधी रसों के विभावादि का ग्रहण कर लेना

2. रस को छोड़ कर अन्य वस्तु का अधिक विस्तृत वर्णन करना

3. असमय रस को समाप्त कर देना या उसका अनवसर प्रकाशन करना

4. रस का पूर्ण परिपोष हो जाने के बाद भी उसका बार-बार उद्दीपन करना

5. व्यवहार का अनौचित्य

इनके आधार पर परवर्ती आचार्यों द्वारा किये गये विवेचनों के आधार पर इन रसदोषों की संख्या बढ़ गयी-

1. स्वशब्दवाच्यता
2. विभावों और अनुभवों की कष्ट कल्पना
3. विवक्षित रस के प्रतिकूल विभावादि का वर्णन
4. रस की बार-बार दीप्ति
5. अनवसर में विस्तार
6. अनवसर में रस का विच्छेद
7. अंग की अत्यंत विस्तृति
8. अंगी की उपेक्षा
9. प्रकृति का विपर्यय
10. अनंग कथन

सहृदय की दृष्टि से रसदोषों का उल्लेख अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में किया। इन्होंने ये रस-विघ्न 7 प्रकार के स्वीकार किये-

1. अयोग्यता
2. स्वगत भाव से देश-काल का आवेश
3. परगत भाव से देश-काल का आवेश

4. निज सुखदुःख का आवेश
5. उपायों की अक्षमता से रस-प्रतीति की स्फुटता का अभाव
6. अप्रधानता
7. संशययोग।

रसाभास- रसाभास दरअसल एक प्रकार का रस दोष ही है। आचार्य भरत मुनि ने रस-विरोध व रसदोष की भांति रसाभास का भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। परवर्ती आचार्यों के पास इसका स्पष्ट विवेचन मिलता है जिनमें उद्भट का नाम पहले आता है। मगर आनन्दवर्धन ने ही इसका सर्वप्रथम प्रामाणिक संकेत देते हुए रसाभास का मूल कारण अनौचित्य को घोषित किया। रसाभास को समझाते हुए अभिनव गुप्त ने सीपी में चाँदी के आभास होने का उदाहरण प्रस्तुत किया। आभास का अर्थ है किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु का प्रतिबिंब या झलक दिखने से उस वस्तु में उस अन्य वस्तु का आरोप कर लेना। आनंदवर्धन के कथनानुरूप काव्य या नाट्य में ये औचित्य के अभाव के कारण होता है। इस स्थिति में सहृदय सामाजिक में रस की निष्पत्ति न होकर मात्र उसका आभास होता है। उदाहरण स्वरूप नायक के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के प्रति नायिका का अनुरक्त होना अनौचित्य होने के कारण श्रृंगार रस का आभास मात्र कराती है, माता-पिता एवं गुरु जैसे पूज्य व्यक्तियों के प्रति गुस्सा अनुचित है तथा रौद्र रस का आभास मात्र कराता है। सामान्य शब्दों में इसका आशय यह है कि रस-निष्पत्ति में जब सामाजिक को कोई बात अनुचित लगती है तथा उसकी बुद्धि रसास्वाद की प्रक्रिया के दौरान बार-बार उस अनौचित्य का स्मरण कराता रहती है जिससे रसास्वाद में बाधा उत्पन्न होती है, ऐसी स्थिति को रसाभास कहा जाता है।

******

तृतीय अध्याय

हिंदी सिनेमा : परिचय एवं महत्व

3.1. सिनेमा - स्वरूप एवं प्रकार

3.2. हिंदी सिनेमा का उद्भव और विकास

3.3. हिंदी सिने-आलोचना व सिने-सिद्धांत

3.4. सिनेमा का महत्व

सिनेमा एक ऐसी स्व-संपन्न दुनिया है जो आज किसी भी परिचय की मोहताज नहीं है। मगर फिर भी सिनेमा का संक्षिप्त परिचय देने चलें तो ये कहा जा सकता है कि सिनेमा सबसे पहले एक कला है और विज्ञान व तकनीक युक्त कला है। इसके पश्चात सिनेमा मनोरंजन का साधन है, अत्यंत प्रभावशाली जनसंचार माध्यम है एवं बहुत बड़ा व्यवसाय है। यह मनुष्य का ऐसा कलात्मक सृजन है जो अपने भीतर अनेक कलाओं को समाहित कर चलता है। सिनेमा अपने मूल में कहानी कहने की एक दृश्यात्मक व तकनीकी कला विधा है जिसमें आवाज़ से अधिक चित्रों की भाषा बोली जाती है। इस बात का प्रमाण है सवाक् फिल्मों से पहले की व सवाक् फिल्मों के दौर में बनायी गयी मूक फिल्मों की लोकप्रियता, जैसे 'चार्ली चैप्लिन', संगीतम श्रीनिवास राउ की 1987 की 'पुष्पक' आदि। इसी दृश्यधर्मिता से फिल्म निर्देशक एक ऐसी दुनिया का निर्माण करने की कोशिश करता है जो दर्शक को वास्तविक लगे। सिनेमा दो-तीन घंटों में अपने दर्शकों को मनोरंजित भी करता है और साथ में कहानी का संदेश भी उन तक संप्रेषित करता है और यही किसी भी कला के मूल उद्देश्य होते हैं। सिनेमा अपने दर्शकों को एक असीम दुनिया में सैर कराता है, उसे खुली आँखों से सपने दिखाता हे और निर्देशक इस दुनिया को इस तरह सृजित करता है कि यह काल्पनिक दुनिया दर्शकों को उनकी वास्तविक दुनिया में इन सपनों को साकार करने के लिए मानसिक रूप से सुदृढ़ भी बनाने की क्षमता रखती है। ऐसी दुनिया के निर्माण कार्य का महंगा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है और इसलिए देश के सबसे बड़े बाज़ारों में से फिल्म बाज़ार भी एक है। सिनेमा अन्य कला एवं मनोरंजन के माध्यमों की तरह किसी खास वर्ग की जनता के लिए नहीं बनाया जाता है। सिनेमा से अनपढ़, गरीब, हर प्रकार के लोगों का मनोरंजन होता है और वैसा ही होता है जैसा कि किसी पढ़े-लिखे दर्शक या आर्थिक रूप से संपन्न दर्शक का होता है। अपनी इतनी अच्छाइयों के बावजूद घोर व्यावसायिकता के दलदल में फँसकर सिनेमा जनता की कुंठा और वासना को उत्तेजित करने वाला कलुषित माध्यम बन कर रह गया। ऐसी फिल्मों की अधिकता के कारण समाज में सिनेमा को लेकर एक नकारात्मक सोच प्रचलित हो गयी और सिनेमा देखना एक हलका अपराध भी माना जाने लगा है।

भारत का सिनेमा आज विश्व का सबसे बड़ा सिने-व्यवसाय है और सालाना यहां से सर्वाधिक फिल्में बनकर निकलती हैं। इसमें कलात्मक, व्यावसायिक हर प्रकार की फिल्में शामिल हैं। इस बहुभाषिक देश में अनेक भाषाओं में फिल्म-निर्माण का व्यवसाय होता है जिनमें सबसे बड़ा बाज़ार हिंदी सिनेमा का है तथा इसे आज भारतीय सिनेमा का प्रतिनिधि होने का दर्जा प्राप्त है।

3.1). सिनेमा - स्वरूप एवं प्रकार:-

सिनेमा एक कला भी है तथा व्यवसाय भी है जिसका अत्यंत रंगीन एवं रोमांचक, वैज्ञानिक व तकनीकी स्वरूप है। ये एक उद्योग है जिसे अनेक कलागत एवं तकनीकी वृत्तियों के लोग मिलकर अंजाम देते हैं। सिनेमा अनेक व्यक्तियों के असाध्य श्रम के परिणाम स्वरूप बनी एक ऐसी काल्पनिक दुनिया है जिसे देखकर दर्शक कुछ समय के लिए ही सही मगर अपने वास्तविक जगत से कटकर उस फिल्मी दुनिया में सैर करता है, हँसता है, रोता है, और एक मानसिक विश्रांति पाता है। इसके साथ ही सिनेमा का लक्ष्य अपने दर्शकों को न केवल मनोरंजन प्रदान करना है अपितु उनके जीवन के द्वंद्वों का समाधान करना भी है। इस संदर्भ में विनोद दास लिखते हैं कि -

“सिनेमा के यथार्थ से हम जीवन के यथार्थ को एक नयी दृष्टि से देखने लगते हैं।”[1]

एवं आशीष नंदी का मानना यह है कि हिंदी सिनेमा दर्शक को अंदरूनी द्वंदव से बाह्यीकृत कर उसे वास्तविक दुनिया से निपटने के लिए मज़बूत बनाता है।

सिनेमा के स्वरूप के मुख्य रूप से दो पक्ष हैं-

1. कला पक्ष
2. तकनीकी पक्ष

सिनेमा के कला पक्ष के अंतर्गत कथा, पटकथा, स्क्रीनप्ले, संवाद, अभिनय, गीत-संगीत, नृत्य, कथावस्तु पर शोध, पात्रों के लिए कलाकारों का चयन आदि आते हैं तथा उसके तकनीकी पक्ष के अंतर्गत फिल्म निर्माण, फिल्म निर्देशन, कला निर्देशन, नृत्य निर्देशन, ऐक्शन निर्देशन, सिनेमाटोग्रफी, लाइट-साउंड की व्यवस्था, सेट दिज़ाइनिंग, मेकप, वेशभूषा (कॉस्ट्यूम) व केश विन्यास, डब्बिंग, फिल्म संपादन, फिल्म वितरण आदि आते हैं। इन दोनों के अलावा हर सिनेमा का एक व्यावसायिक पक्ष भी होता है। यही वह पक्ष है जो उस उद्योग में लगाये जाने वाले पैसों का निर्धारण करता है तथा उससे कमाये जाने वाले मुनाफे का अनुमान भी लगवाता है। सिनेमा का व्यावसायिक पक्ष ही वह मूल है जिसके ज़रिये सिनेमा को मोटे तौर पे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। वैसे तो कला एवं तकनीकी पक्षों में से किसी भी एक के अभाव से सिनेमा का निर्माण नहीं हो सकता मगर कुछ फिल्में जिनका मूल उद्देश्य क्षुद्र मनोरंजन करना व पैसा कमाना होता है उनका कला पक्ष थोड़ा कमज़ोर होता है। इसके अतिरिक्त जिन फिल्मों का मूल उद्देश्य दर्शकों को संदेश सम्प्रेषित करना हो, मात्र पैसा

[1]. 'भारतीय सिनेमा का अंतःकरण' - विनोद दास, मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली, पृष्ट - 13

कमाना न होकर एक बेहतर मनुष्य एवं एक बेहतर समाज का निर्माण करना हो, ऐसी फिल्मों का कला पक्ष मज़बूत होता है। इसके आधार पर सिनेमा के दो प्रकार हैं -

1. मुख्य धारा का सिनेमा/ व्यावसायिक सिनेमा
2. समानांतर/यथार्थवादी/कला सिनेमा

इन दोनों के अलावा सिनेमा का एक तीसरा प्रकार है जो इन दोनों प्रकारों के मध्य एक समन्वय स्थापित करता हुआ आगे बढ़ता है। यह सिनेमा सम्मान-पुरस्कार व समीक्षकों की प्रशंसा के साथ-साथ दर्शकों में लोकप्रियता व धन भी प्राप्त करता है। इस तरह के सिनेमा का निर्माण-कार्य साधने के लिए अत्यंत कठिन कार्य है क्यों कि ऐसा सिनेमा बनाने के लिए अत्यंत कलात्मक प्रतिभा, कल्पनाशीलता, विवेक, व्यावसायिक समझ इन सबके मिश्रण की ज़रूरत होती है जो दुर्लभ है। सिनेमा का ये प्रकार उस आहार की तरह है जो स्वादिष्ट भी है और पौष्टिक भी। जैसे कि खाने में सामान्य मनुष्य पौष्टिकता को महत्व तो देता है मगर उससे अधिक उसके स्वाद को महत्व देता है तथा वो स्वाद के लिए पौष्टिक आहार को छोड़ना पौष्टिकता के लिए स्वादिष्ट आहार को छोड़ने से सरल मानता है, वैसे ही सिनेमा के सामान्य दर्शक सार्थकता से अधिक महत्व मनोरंजन को देते हैं। ये लाज़मी भी है। दर्शक पैसे खर्च कर सिनेमा घर दुःखी होकर आँसू बहाकर वापस जाने के लिए नहीं आते और न ही गंभीर होकर किसी सामाजिक मुद्दे पर विचार करने आते हैं। ये सब तो सिनेमा घर के बाहर उनकी असली दुनिया में भी होता है। कुछ समय के लिए एक कल्पित दुनिया में सैर कर, अपनी सभी परेशानियों को भुलाकर अपनी तनाव भरी ज़िंदगी से राहत पाने के लिए लोग सिनेमा देखने आते हैं। इसलिए दर्शक का मनोरंजन करते हुए अपनी बात कह देना फिल्म-निर्माण का मूल एवं सार्थक उद्देश्य होना चाहिए। हिंदी सिनेमा में शुरुआती दौर से ही इस तीसरी धारा की फिल्में कमोबेश बनती आ रही थी और आज भी बन रही हैं। हिंदी सिनेमा प्रेमियों के लिए एक सुखद बात यह है कि मसाला या व्यावसायिक सिनेमा एवं कला या यथार्थवादी सिनेमा के बीच की लकीर पहले से आज बहुत पतली होती जा रही है। पहले भी इस लकीर पर चलकर दोनों फिल्म धाराओं के बीच समन्वय स्थापित करने की कोशिश बहुतों ने की मगर अब लगता है कि धीरे-धीरे ये लकीर पतली होती जा रही है और भविष्य में इसके मिट जाने की भी संभावनाएँ देखी जा सकती है।

3,2), हिंदी सिनेमा का उद्भव और विकास :-

भारतीय फिल्म यात्रा की शुरुआत आज से 106 वर्ष पूर्व 21 अप्रैल 1913 को प्रदर्शित की गयी एवं दादासाहब फालके द्वारा बनायी गयी पहली भारतीय फीचर फिल्म ‘राजा हरिश्चंद्र’ से होती है। मगर इसके प्रेरणा स्रोतों का प्रवेश भारत में इसके लगभग 15-20 वर्ष पूर्व ही हो गया था। 7 जुलाई 1896 को मुंबई के वाट्सन होटेल में फ्रांस के लुमेर ब्रदर्स ने अपनी फिल्मकला का प्रदर्शन किया था। यही भारत में सिनेमा का सर्वप्रथम प्रदर्शन था। इसके आकर्षण ने पूरे भारत को तथा खासकर भारत के मुख्य नगरों को अत्यंत प्रभावित किया। इसके पश्चात 1910 में ‘द लाईफ ऑफ क्राइस्ट’ नामक पश्चिमी फिल्म का प्रदर्शन भारत में हुआ। इन सभी के प्रभाव से 1912 से भारत में फिल्म-निर्माण का सिलसिला चल पड़ा जिसका नतीजा थी 1913 में आयी, दादासाहब फालके की बनायी हुई, भारत की सर्वप्रथम फिल्म ‘राजा हरिश्चंद्र’। भारतीय सिनेमा अपने आरंभिक दौर में मूक था तथा अधिकांश रूप से धार्मिक एवं मिथकीय कथाओं पर आधारित था। ‘राजा हरिश्चंद्र’ से शुरू हुआ ये सफर ‘भस्मासुर मोहिनी’, ‘सत्यवान सावित्री’, ‘लंका दहन’, ‘कृष्ण जन्म’, ‘कालिया मर्दन’ आदि के रूप में आगे बढ़ता गया। 1917 में दादासहब फलके ने ‘हिंदुस्तान फिल्म कंपनी’ स्थापित की जिसके बैनर के नीचे इन्होंने लगभग 100 फिल्में बनायी। न केवल हिंदी सिनेमा अपितु संपूर्ण भारतीय सिनेमा के इस इतिहास पुरुष की मृत्यु 1944 में हो गयी। तब तक भारत में सवाक् फिल्मों का दौर चल पड़ा था। 1931 में अर्देशी इरानी ने भारत की पहली सवाक् फिल्म ‘आलम आरा’ बनायी थी। सवाक् फिल्मों के दौर में भी धार्मिक व मिथकीय फिल्मों का वर्चस्व बना रहा। इस दौर में 1934 में बनी नितिन बोस की ‘चंडीदास’, 1936 में शरद्चंद्र के बंगाली उपन्यास पर बनी ‘देवदास’, जो इससे पहले 1935 में बंग्ला भाषा में एवं 1928 में मूक रूप से बनायी गयी थी, जैसी फिल्मों में सामाजिक विसंगतियों को कुरेदा गया। ‘चंडीदास’ में एक सामान्य अछूत कन्या से वैष्णव कवि चंडीदास का प्रेम प्रसंग दिखाया गया है और इसके ज़रिये जातिवाद की समस्या को रेखांकित किया गया है। ‘देवदास’ भी जाति के बंधनों के कारण अपनी प्रेमिका को पने में असफल युवक की दर्दनाक कहानी कहती है। इस क्रम में ‘भक्त कबीर’ जैसी कुछ उल्लेखनीय फिल्में हैं। स्वतंत्रता पूर्व हिंदी सिनेमा सामाजिक चेतना एवं सरोकारों को समर्पित था। इसी दौरान अनेक फिल्म निर्माण कंपनियाँ भी बनी जैसे ‘इम्पीरियल मूवीटेन’ (1926), ‘प्रभात फिल्म कंपनी’ (1929), ‘सागर फिल्म कंपनी (1930), ‘बॉम्बे टॉकीज़’ (1934), ‘फिल्मिस्तान स्टूडियो’ (1943) आदि। भारत की सबसे पहली सवाक् फिल्म ‘आलम आरा’ का निर्माण ‘इम्पीरियल मूवीटेन’ के बैनर के नीचे ही हुआ था। हिमांशु राय ने अपनी कंपनी

‘बॉम्बे टॉकीज़’ के ज़रिये हिंदी सिनेमा को ‘देवकी रानी’, ‘अशोक कुमार’, ‘दिलीप कुमार’ जैसे महान अभिनेता, अभिनेत्री दिये। इन फिल्म निर्माण कंपनियों के बारे में प्रसून सिन्हा लिखते हैं कि-

“ फिल्म निर्माण कंपनियों की शुरुआत वैसे सन् 1918 के आसपास हो चुकी थी और सन् 1940 तक पूरे ज़ोरों पर रही, लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण पूरी भारतीय बाज़ार व्यवस्था चरमरा गयी थी और इसका व्यापक असर फिल्म बाज़ार पर भी पड़ा। इस कारण कई फिल्म निर्माण कंपनियों की वित्तीय हालात इतनी गड़बड़ा गयी कि उसे अपना कारोबार बंद ही कर देना पड़ा या किसी के हाथों बेच देना पड़ा। वैसे एक आँकड़े के अनुसार सन् 1935 में पूरे भारत में छोटी-बडी़ मिलाकर कुछ 85 फिल्म निर्माण कंपनियाँ फिल्मों का निर्माण कर रही थी।”[2]

इस प्रकार एक तरफ सामाजिक चेतना से युक्त, दूसरी तरफ स्वतंत्रता के स्वपन लिये तथा तीसरी तरफ द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से हताश काल में फिल्म निर्माण में इन सभी कंपनियों का योगदान स्मरणीय रहा एवं हिंदी सिनेमा के इतिहास में भी अपूर्व रहा।

इसके बाद स्वतंत्रता के पश्चात देश की जनता में अच्छे भविष्य के सपने थे साथ ही समाज में भ्रष्टाचार, सांप्रदायिकता आदि का भी वर्चस्व बढ़ता गया। इनके अतिरिक्त स्वतंत्रता की खुशी को विभाजन की त्रासदी ने पहले ही कम कर दिया था। इन सारे प्रभावों से मिला-जुला इस काल का हिंदी सिनेमा का स्वरूप बना। इस काल में स्पष्ट रूप से आज़ादी के मोहभंग को देखा जा सकता है। इस काल में इन सभी प्रभावों के बीच बनी कुछ महत्वपूर्ण फिल्में हैं- ‘आवारा’ (1951) जिस फिल्म में नव आज़ाद भारत के सामाजिक गठन एवं अमीरी-गरीबी का अंतर्द्वंद्व दिखाया गया, विमल राय की ‘दो बीघा ज़मीन’ (1953), इसी साल आयी इन्हीं की ‘परिणीता’, मेहबूब खान की ‘मदर इंडिया’ (1957), ‘जिस देश में गंगा बहती है’ (1960), भारत-चीन युद्ध पर आधारित फिल्म ‘हकीकत’ आदि। इनके अलावा ‘मुन्ना’, ‘बूट पॉलिश’, ‘जागते रहो’, ‘मुसाफिर’, ‘इनसान जाग उठा’, ‘शहर और सपना’ जैसी फिल्मों को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। इस दौर में ‘मुग़ल-ए-आज़म’ (1960) जैसी क्लासिक ऐतिहासिक फिल्में भी बनी। साहित्यिक कृतियों के फिल्मी रूपांतरण से भी इस दौर का हिंदी सिनेमा समृद्ध था जैसे ‘साहिब बीवी और गुलाम' (1962), ‘गाइड’ (1965), ‘तीसरी कसम’ (1966) आदि। 1966 में भारत सरकार ने समाजोपयोगी विषय-वस्तु पर आधारित सामान्य जनता की समस्याओं को उजागर करने वाली फिल्मों के निर्माण-कार्य के लिए आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से एन. एम. डी. सी (राष्ट्रीय फिल्म वित्त निगम) की स्थापना की। इसी वर्ष एन.

---

[2]. ‘भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रा’ - प्रसून सिंहा, कांती पब्लिकेशन, नईई दिल्ली पृष्ठ - 21

एम. डी. सी के आर्थिक सहयोग से बनी फिल्में- मृणाल सेन की 'भुवनशोम', मणि कौल की 'उसकी रोटि' एवं बासु चटर्जी की 'सारा आकाश', से हिंदी सिनेमा में 'समानांतर फिल्म धारा' प्रवाहित होने लगी। यहां से हिंदी सिनेमा समानांतर व मुख्यधार नामक दो धाराओं में बंट गयी। समानांतर फिल्मों की विषय-वस्तु अधिकांशतः सामाजिक समस्याओं पर आधारित होती थी तथा मुख्यधारा के सिनेमा का प्रथम एवं अंतिम लक्ष्य अपने दर्शकों का मनोरंजन करना एवं पैसा कमाना था इससे पहले गुरुदत्त, विमल राय, राज कपूर जैसे कुछ फिल्मकार थे जो सिनेमा की लोकप्रियता एवं सोद्देश्यपूर्णता को साथ लेकर चलते थे मगर समानांतर एवं मुख्यधारा की फिल्मों के इस विभाजन के बाद मुख्यधारा की फिल्में मसाला फिल्में बन गयीं जो घोर व्यावसायिकता के दलदल में फँस चुकी थी जो अपने व्यवसाय के लिए दर्शकों की कुंठाओं व वासनाओं को उत्तेजित करके पैसे बनाती थी। दूसरी तरफ समानांतर सिनेमा सोद्देश्यपूर्ण था, पुरस्कार व सम्मान भी इसे प्राप्त होते थे मगर पैसा व लोक्प्रियता इसके नसीब में नहीं था। ये फासला हमें तब से लेकर इक्कीसवीं शताब्दी के शुरुआती दौर तक देखने को मिलता है। समानांतर सिनेमा को पैरेलल सिनेमा, कला सिनेमा, नव सिनेमा, यथार्थवादी सिनेमा, गैर व्यावसायिक सिनेमा आदि कई नाम दिये गये। श्याम बेनेगल की 'अंकुर' (1973), 'चरणदास चोर' (1974), 'भूमिका' (1976), भारत-पाक विभाजन पर आधारित स्थ्यू की फिल्म 'गर्म हवा', गोविंद निह्लानी की 'आक्रोश' (1980), कुंदन शाह की 'जाने भी दो न यार' (1983), सुधीर मिश्रा की 'धारावी' (1991) आदि इस धारा के उदाहरण हैं। इसे अनेक राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार भी प्राप्त हुए। ये नया सिनेमा आंदोलन था जो 1966 से चला तथा जिसका आंदोलन रूप 1992 तक आते-आते क्षीण होता गया। समानांतर सिनेमा के इस आंदोलन ने एक खास दर्शक वर्ग को आकर्षित किया तथा उनको एक नवीन व सृजनात्मक सोच प्रदान की। हिंदी सिनेमा के इतिहास में इस आंदोलन का अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा। व्यावसायिक दृष्टि से बनी होने के बावजूद हिंदी सिनेमा को पहचान दिलाने में मुख्यधारा की फिल्मों का योगदान भी कुछ कम नहीं था। इस दौर में ही नहीं हर काल में हिंदी सिनेमा की मुख्यधारा की कई ऐसी फिल्में बनी हैं जिन्होंने हिंदी सिनेमा को पूरे विश्व में एक नयी पहचान दिलायी। इसी क्रम में सत्तर के दशक में 'ऐंग्रीग् यंग मैंन' (अमिताभ बच्चन) का दौर चला। फिर उन्नीसवीं सदि के अंतिम दशक व बीसवीं सदि के शुरुआती दौर में हिंदी सिनेमा पर भूमंडलीकरण का प्रभाव पड़ा। इसके प्रभाव से समाज में जैसे बदलाव हुए उसी के अनुरूप हिंदी सिनेमा में विलासितापूर्ण जीवन शैली का, अतिशय पूंजी आदि का अधिक प्रदर्शन होने लगा। प्रेम कहानियाँ तो सिनेमा की शुरुआत से ही सिनेमा का एक अटूट हिस्स बन गयी थी जो आज तक चली आ रही हैं।

इसके पश्चात ये निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि इक्किसवीं सदि में हिंदी सिनेमा के कथ्य, शिल्प, तकनीक आदि हर क्षेत्र में बहुत अधिक परिवर्तन हुए। पहले की तरह प्रेम, स्नेह, पारिवारिक कहानियाँ तो इस दौर में मिलती ही हैं इसके साथ-साथ सामाजिक समस्याएँ, समाज के हाशिये के लोग ये सब इस काल में हिंदी सिनेमा के केंद्र में आ गये। खासकर ये हिंदी सिनेमा में नारी सशक्तता का दौर कहा जा सकता है। उदाहारण के लिए 'कहानी' (2012), 'क्वीन' (2014), 'राज़ी' (2018), 'मणिकर्णिका' (2019) आदि स्त्री पात्र प्रधान फिल्में हैं। इस काल में हिंदी सिनेमा में ऐसे-ऐसे यथार्थवादी मुद्दे उठाये जाने लगे जिनको इससे पहले कभी भी महत्व नहीं दिया गया था। इक्किसवीं सदी के सिनेमा की एक और विशेषता ये है कि इसके दूसरे दशक तक आते-आते जिस हिंदी सिनेमा में इससे पूर्व सूपर स्टार प्रधान था, जहां लोग फिल्म के अभिनेता का नाम देखकर फिल्म देखने आ जाते थे और वह फिल्म कहानी की दृष्टि से कैसी भी हो मगर बड़े सूपर स्टार के नाम पर हिट हो जाती थी, अभी कहानी प्रधान हो गयी है। सौभाग्यवश इसके कारण व्यावसायिकता एवं सोद्देश्यपूर्णता को एक साथ लेकर चलने वाली फिल्मों का दौर फिर से चल पड़ा। 'लगान' (2001), 'तारे ज़मीन पर' (2007), 'त्री ईडियट्स' (2009), 'पी के' (2014), 'पिंक' (2016), 'दंगल' (2016), 'टोईलेट - एक प्रेम कथा' (2017), 'पैडमैन' (2018), आदि इस क्रम में उल्लेखनीय हैं। शुद्ध रूप से व्यवसाय के लिए बनयी जाने वाली फिल्में हर काल की तरह इस काल में भी हैं मगर हिंदी सिनेमा एवं हिंदी सिनेमा के दर्शकों का सौभाग्य ये है कि अब धीरे-धीरे मुख्यधारा एवं कला सिनेमा के बीच का फासला कम हो रहा है तथा हिंदी सिनेमा के स्वर्णिम भविष्य की राह बनती दिख रही है। ये कहने में भी संकोच नहीं होता कि हिंदी सिनेमा अब शायद अपने चरमोत्कर्ष में है।

इस तरह अपने लगभग सौ सालों के इतिहास में हिंदी सिनेमा अनेक पड़ावों को पार करके आज उस मुकाम पर पहुंचा है जहां वह विश्व का सबसे बड़ा फिल्म व्यावसाय है। इस संदर्भ में निरा जलक्षत्री ने लिखा है कि-

"भारत के विशेष संदर्भ में देखने पर प्रतीत होता है कि फ्रांस से आविष्कृत इस कला ने भारतीय परिवेश में स्वयं को इस प्रकार ढ़ाला है कि आज विश्व सिनेमा में अपनी विशिष्टता के कारण अपना अलग स्थान रखती है। भारतीय संस्कृति, परिवेश, में रच-बसकर निखरी इस कला के इस संक्षिप्त इतिहास में विभिन्न पड़ाव आये हैं और अनेक परिवर्तनों से होकर आज हिंदी सिनेमा ने 'बॉलीवुड' का नया नामावतरण ग्रहण किया है।"[3]

[3]. 'साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंध' - नीरा जलक्षत्री, स्टार पब्लिशर्स, नयी दिल्ली, पृष्ठ – 38

3.3). हिंदी सिने-आलोचना व सिने-सिद्धांत:-

सिनेमा की शुरुआत से ही साहित्य और सिनेमा का रिश्ता बहुत ही गहरा और दिलचस्प रहा है। सिनेमा की शुरुआत ही इस देश में साहित्यिक कृति के रूपांतरण से हुई है। भारत में बनी पहली फीचर फिल्म दादासाहब फालके ने बनायी थी जो हिंदी के प्रमुख साहित्यकार भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक 'हरिश्चंद्र' पर आधारित थी। इसके बाद बहुत सी साहित्यिक कृतियों पर समय-समय पर फिल्में बनी हैं जैसे 'देवदास', 'तीसरी कसम', 'रजनीगंधा' आदि जिनमें कुछ तो सफल रही हैं मगर बहुत सारी फिल्में दर्शकों का ध्यान आकर्षित नहीं कर पायी और न ही उस साहित्यिक कृति की आत्मा के साथ न्याय कर पायी। साहित्यिक कृतियों पर आधारित अधिक सफल फिल्मों का न बनने के पीछे बहुत सारे कारण हैं मगर ये भी एक सच्चाई है कि इतिहास में साहित्य पर आधारित जितना सिनेमा बना है उतना सिनेमा पर आधारित साहित्य नहीं रचा गया है। हिंदी में सिनेमा लेखन की कमी दिखाई देती है और जितना भी लिखा गया है उसमें 90 प्रतिशत गॉसिप ही है। हालाँकि पत्रकारिता में सिनेमा लेखन चलता रहा जैसे 'चित्रपट', 'माधुरी', 'दिनमान', 'सारिका' आदि पत्रिकाओं में। भगवती चरण वर्मा की 'वासवदत्ता का चित्रलेख' नाम से एक पुस्तक भी सिनेमा पर हिंदी साहित्य में आयी है। ऐसे कुछ सिनेमा संबंधी लेखन हमें हिंदी साहित्य्स में दिखता है मगर आलोचना के क्षेत्र में सिनेमा पर सैद्धांतिक आलोचनाएँ और विमर्श 21वीं शताब्दी में ही शुरू हुई हैं।

सिनेमा को भारत देश में काफी समय तक केवल एक मनोरंजन प्रदायी व्यावसायिक माध्यम के रूप में देखा गया है। मनोरंजन का साधन होने के साथ-साथ कला का एक रूप होने का दर्जा सिनेमा को इस देश में बहुत देर से मिला। सिनेमा को लेकर ये मान्यता प्रचलित होने से ही साहित्य में भी सिनेमा को लेकर गंभीर लेखन शुरू हुआ। इस क्रम में 21वीं शताब्दी के कुछ महत्वपूर्ण सिने-आलोचनाओं का यहां उल्लेख है- 'सिनेमा और संस्कृति' - राही मासूम रज़ा, 'भारतीय सिने-सिद्धांत' - अनुपम ओझा, 'भारतीय सिनेमा का अंतःकरण' - विनोद दास, 'भारतीय सिनेमा का सफरनामा' - पुनीत बिसारिया और राजनारयण शुक्ल (संपादक), 'लेखक का सिनेमा'- कुँवर नारायण, 'अभिनव सिनेमा – रस सिद्धांत के आलोक में विश्व सिनेमा का परिचय'- प्रचण्ड प्रवीर, 'सिनेमा पढ़ने के तरीके' - विष्णु खरे, 'हिंदी सिनेमा : सार्थकता की तलाश' - प्रकाश कांत, 'भारतीय सिनेमा में पत्रकारिता का श्रृंगार' - चौधरी ज़िया इमान, 'भारतीय हिंदी सिनेमा की विकास यात्रा' - देवेंद्र पाल सिंह, 'भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रा' - प्रसून सिंहा, पटकथा लेखन : एक परिचय'- मनोहर श्याम जोशी आदि। साहित्य और सिनेमा के आपसी सम्बंध का अध्ययन करते हुए भी काफी पुस्तकें इस दौर में हिंदी में आयी जैसे शैलजा भरद्वाज की 'साहित्य और सिनेमा : बदलते परिदृश्य में संभावनाएँ और

चुनौतियाँ', विवेक दूबे की 'हिंदी साहित्य और सिनेमा', विपुल कुमार की 'साहित्य और सिनेमा : अंतःसंबंध और रूपांतरण' आदि।

अभिव्यक्ति के तमाम साधनों में सिनेमा सबसे अधिक प्रभावशाली, सशक्त और जीवंत माध्यम है। सिनेमा ऐसा एकमात्र मीडिया है जो अकेले ही कला, व्यवसाय, मनोरंजन और सामाजिक ज़िम्मेदारी को एक साथ सबसे बेहतर तरीके से साधने की ताकत रखता है। ऐसी सशक्त व प्रभावशाली कलाकृतियों पर गंभीरता से विचार-विमर्श करने की परंपरा का आगाज़ 21वीं शताब्दी की शुरुआत से हिंदी जगत में हुआ है। मगर आज भी भारत के कई पारंपरिक परिवारों में सिनेमाघर जाकर फिल्म देखना एक हलका अपराध ही माना जाता है और इसके मुख्य कारण हैं घोर व्यावसायिकता के दलदल में फँसकर अश्लीलता को प्रोत्साहन देने वाले सिनेमा का निर्माण व अच्छी सिनेमा पर गम्भीरता से विचार-विमर्श न होना। इस सोच को बदलने के लिए हमें हिंदी के पाठ्यक्रम में सार्थक और संदेशात्मक सिनेमा को और सिने-आलोचना को स्थान देना होगा। इस गंभीर व सैद्धांतिक सिने-चिंतन के अभाव के कारण पश्चिमी सिनेमा की अपेक्षा भारतीय, खासकर हिंदी सिनेमा के पास अपना सिने-शास्त्र या सिद्धांत का भी अभाव देखा जा सकता है। एक संपूर्ण शास्त्र न सही मगर पश्चिम में सिनेमा के सिद्धांतकार अवश्य हुए हैं और इस क्रम में सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण नाम है 'यूगो मंस्टर बर्ग' का। मगर भारतीय सिनेमा और पश्चिमी सिनेमा में अनेक स्तरों पर कई अंतर हैं और इसलिए पश्चिमी सिद्धांतों पर भारतीय सिनेमा को कसना समीचीन नहीं लगता। आज हिंदी सिनेमा हॉलीवुड को ही अपना आदर्श मानकर उसके मानदंडों पर खरा उतरना अपनी सफलता का मूल मानने लगा है और इसका एक महत्वपूर्ण कारण है भारतीय काव्य के लिए काव्यशास्त्र, नाटक के लिए नाट्यशास्त्र आदि की तरह भारतीय सिनेमा के लिए एक व्यवस्थित शास्त्र का न होना। आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के जो-जो लक्षण व प्रयोजन बताए हमारा सिनेमा भी लगभग उसी राह पर चलता दिखायी देता है। इससे यह पता चलता है कि भारतीय सिनेमा अपने मूल में कहीं न कहीं भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' से प्रभावित है। इसके अलावा हिंदी सिनेमा पर अन्य अनेकों प्रभाव हैं जैसे फारसी थियेटर, हॉलीवुड, इटालियन नवयथार्थवादी सिनेमा, भारतीय पौराणिक मिथक आदि। इन सभी प्रभावों को ध्यान में रखते हुए तथा भरत-कृत 'नाट्यशास्त्र' को आधार बनाकर हिंदी सिनेमा का एक संपूर्ण एवं व्यवस्थित शास्त्र या सिद्धांत का निर्माण कार्य हो सकता है और उसके होने की आवश्यकता विद्वानों द्वारा महसूस भी की गयी है। वास्तव में सिने-सिद्धांत के निर्माण का ये सपना भारत के सर्वप्रथम फिल्मकार दादासाहब फालके ने स्वयं देखा था जिस ओर अनुपम ओझा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सिने-सिद्धांत' में इशारा किया है।

3.4) सिनेमा का महत्व:-

समाज से बनकर निकली हुई, समाज को आईना दिखाने वाली व उसी समाज को प्रभावित भी करने वाली हर चीज़ अवश्य ही उस समाज के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। ये चीजें समाज के निर्माण प्रक्रिया को बखूबी दर्शाती हैं और आवश्यकता पड़ने पर उसकी दशा को दिशा भी प्रदान करती हैं। इनसान की पांच ज्ञानेंद्रियाँ होती हैं- आँख (देखना), कान (सुनना), नाक (गंध पहचानना), जिह्वा (स्वाद को पहचानना), त्वचा (स्पर्श करना)। इन पांचों के ज़रिये ही वह इस दुनिया की सभी चीजों को महसूस कर उनका आनंद ले पाता है। इन पांचों ज्ञानेंद्रियों मे से परंपरा से (भारतीय व पाश्चत्य सौंदर्यशास्त्रों के इतिहास में) दृश्य-धर्मा आँख को सबसे ऊपर स्थान दिया गया है। भारतीय वांगमय में तो 'सर्वेंद्रियानां नयनं प्रधानम्' (सभी इंद्रियों में नयन सबसे प्रधान हैं) भी कहा गया है क्यों कि नेत्रों से देखी हुई चीज़ इनसान को बहुत जल्दी और सबसे ज्यादा प्रभावित करती है। दृश्य-धर्मा आँख के बाद इस क्रम में ध्वनि-धर्मा कान है। देखी हुई चीज़ के बाद अत्यंत प्रभावशाली चीज़ मनुष्य के लिए उसके द्वारा सुनी हुई चीज़ होती है। इस दृष्टि से देखें तो कला माध्यमों में दृश्य-श्रव्य कला माध्यमों का प्रभाव जन समुदाय पर बहुत अधिक है तथा आधुनिक समाज में सिनेमा से ज़्यादा प्रभावशाली दृश्य-श्रव्य कला माध्यम कोई दूसरा नहीं है। हर कला की तरह सिनेमा के भी मूल उद्देश्य हैं अपने दर्शकों का मनोरंजन करना और अपनी बात (संदेश) भी उन तक पहुंचा देना और भारतीय सिनेमा अपने आरंभिक काल से ये दोनों काम बखूबी करता आ रहा है। सिनेमा के निर्माण के मूल में उसके समाज की परिस्थितियाँ ही हैं तथा अपनी कलात्मकता व सृजनात्मकता से वह उसी समाज को प्रभावित भी करता है। इनसान के खान-पान, पहनावे से लेकर सामाजिक व राजनैतिक मुद्दों पर उसके दृष्टिकोण तक, पारिवारिक रिश्तों के मिठास व कड़वाहट से लेकर समाज में मित्रता व भाईचारा की भावना तक को सिनेमा बहुत ही बड़े स्तर पर और बहुत ही आसानी से प्रभावित करता है। भारतीय समाज के साथ हिंदी सिनेमा के रिश्ते को स्पष्ट करते हुए 'भारतीय हिंदी सिनेमा की विकास यात्रा' में कहा गया है कि-

"हिंदी सिनेमा समाज का एक प्रामाणिक और वैज्ञानिक दस्तावेज़ भले न हो लेकिन एक समाज उसके भीतर से रिफ्लेक्ट होता है। हम सभ्यता के और समय के जिस बिंदु पर खड़े हैं वहां सिनेमा हम पर असर ड़ालता है। हमारी ज़िंदगी को गढ़ने-बिगाड़ने की कोशिश करता दिखता है। साथ ही दृश्य और श्रव्य का यह माध्यम हमारी ज्ञनेंद्रियों से अनुभूत 90 प्रतीशत सूचनाएँ मस्तिष्क तक पहुँचाने में सक्षम

होता है। निश्चय ही फिल्में वह हैं जो समाज में दर्पण, दीपक और दिगसूचक तीनों की भूमिका निभाती हैं।"[4]

मनोरंजन प्रदान करने वाले व अपने श्रम से थके हुए एवं निराश तथा हताश दर्शकों को कुछ देर के लिए ही सही मानसिक उल्लास प्रदान करके उन्हें उनके जीवन के तमाम तनावों से मुक्त कर कुछ वक्त के लिए ऐसी दिनिया का निर्माण करने वाले कला माध्यमों, जिसमे वह सिने-पात्रो के साथ हँसता है, रोजा है, उसकी खुशी में खुश होता है व उसके दुःखों में दुःखी होता है, में भी निस्संदिग्ध रूप से सिनेमा का स्थान सबसे आगे है। सिनेमा एक ऐसा जनसंचार माध्यम है जिसकी पहुँच अति व्यापक है। ये धनवान-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित सभी प्रकार के दर्शक वर्ग के लिए समान रूप से उपलब्ध है। इस संदर्भ में हिंदी सिनेमा की भूमिका के बारे में बताते हुए सुधीर कक्कड ने कहा है कि सिनेमा एक मिथक है जो दर्शकों को तनाव भरी ज़िंदगी से राहत दिलाता है।

सिनेमा अपने भीतर बहुत सारी कला माध्यमों को समाहित करने के साथ-साथ तकनीक, विज्ञान, व्यावसाय, विचार, मनोरंजन इन सबको अपने आग़ोश में समा लेता है। वह मनोरंजन के साथ-साथ अपने दर्शक को राहत भी प्रदान करता है एवं उसे मज़बूत भी बनाता है। इस संदर्भ में डॉ. अर्जुन तिवारी ने कहा है कि-

"सिनेमा में विज्ञान की शक्ती और कला की सुंदरता है जो बुद्धी को खाद्य देती है और हृदय को आंदोलित करती है।"[5]

सिनेमा व्यवसाय का बहुत बड़ा बाज़ार है। हिंदी सिनेमा, जिसे आज बॉलीवुड कहा जाता है, वह आज दुनिया भर में सबसे बड़ा सिने-उद्योग बन चुका है। अनेक कलाओं एवं तकनीकी व्यापारों के योग से बना ये उद्योग बहुत बडी़ संख्या में लोगों को काम दिलाने वाला बाज़ार है। अनुपम ओझा के शब्दों में-

"वस्तुतः सिनेमा एक और एक के जोड़ने से बना हुआ ग्यारह है न कि दो। सिनेमा अनेक कलाओं का सम्मिश्रिण है – चित्रकला, मूर्तिकला, संगीतकला, नाट्य, फोटोग्राफी, लेखन, निर्देशन, वेशभूषा तथा व्यवसाय आदि। विज्ञान वह पात्र है , जिसमें इनका सम्मिश्रण होता है। "[6]

[4]. 'भारातीय हिंदी सिनेमा की विकास यात्रा'- डॉ देवेंद्रनाथ सिंह, डा वीरेंद्र सिंह यादव, पैसिफिक पब्लिकेशनस, दिल्ली, पृष्ठ – 57, 58

[5]. 'आधुनिक पत्रकारिता'- डॉ अर्जुन तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणासी, पृष्ठ - 22

[6]. 'भारतीय सिने–सिद्धांत'- अनुपम ओझ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ - 33

सिनेमा के स्वरूप के कला पक्ष में वह सभी ललित कलाओं को अपने भीतर समाहित कर लेता है तथा उसके तकनीकी पक्ष के अंतर्गत नवीन विज्ञान व तकनीक से संबंधित अनेक व्यापार आ जाते हैं। इस दृष्टि से देखने पर सिनेमा अनेक प्रकार के कलात्मक प्रतिभाओं को प्रदर्शन का अवसर देता है, अनेक कलाकारों को उद्योग प्रदान करता है साथ ही अपने तकनीकी पक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिए भी अनेकों को काम दिलाता है जिससे वें अपना पेट पाल सके। हर एक फिल्म में अभिनेता-अभिनेत्री, गायक, निर्देशक, निर्माता, के अलावा हजारों कलाकारों (पटकथा लेखक, गानों का लेखक, नृत्य निर्देशक, संगीत निर्देशक, संवाद लेखक आदि) एवं अनेक टेक्नीशियनों (सिनेमाटोग्राफर, लाइट टेकनीशियन, साउंड टेक्नीशियन आदि) की मिली-जुली मेहनत लगती है।

समाज में सिनेमा के महत्व को सारांश रूप में निम्नलिखित बिंदुओं में देखा जा सकता है-

1. सिनेमा समाज का अत्यंत प्रभावशाली जनसंचार माध्यम है।
2. सिनेमा अपने समाज को कलात्मकता के साथ प्रतिबिंबित करता है।
3. सिनेमा समाज का दिक्सूचन करता है।
4. सिनेमा मनोरंजन का साधन है।
5. सिनेमा अपने दर्शकों को राहत प्रदान करने का काम करता है।
6. सिनेमा में कलात्मकता के साथ अपनी बात रखके दर्शकों को सामाजिक समासायों से निपटने के लिए मज़बूत बनाने की क्षमता है।
7. सिनेमा बहुत बडी़ संख्या में लोगों को कलात्मक व तकनीकी उद्योग प्रदान करने वाला बाज़ार है।

घोर व्यावसायिकता व अश्लीलता से मुक्त कलात्मक, सार्थक सिनेमा का हर पक्ष सुदृढ़ होता है और वह आज के समाज का अत्यंत महत्वपूर्ण जनसंचार माध्यमों में निस्संदिग्ध रूप से स्थान प्राप्त करता है।

हिंदी सिनेमा की एक ऐसी की उत्कृष्टतम कलाकृति है 'शोले' फिल्म। इस लघु शोधकार्य के लिए 'शोले' फिल्म को चुनने के पीछे का कारण यह है कि वह हिंदी सिनेमा की एक सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है। इसकी लोकप्रियता ऐतिहासिक है। इसने शिक्षित-अशिक्षित, छोटे-बड़े आदि हर प्रकार के दर्षक वर्ग को आकर्षित किया है। इस फिल्म के बारे में बताते हुए हिंदी के मशहूर फिल्म निर्माता, निर्देशक व अभिनेता शेखर कपूर ने ये कहा है कि-

"There has never been a more defining film on the Indian screen. Indian film history can be devided into Sholay BC and Sholay AD"[7]

अर्थात भारत में शोले' के जितिनी अर्थवंत फिल्म कभी नहीं देखी गयी। भारतीय सिनेमा के इतिहास को 'शोले' के पूर्व का भारतीय सिनेमा और 'शोले' के बाद का भारतीय सिनेमा के रूप में दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

आज इस फिल्म को आए 43 साल से अधिक वक्त हो चुका है मगर आज भी इसका जादू भारतीय दर्शकों पर वैसे का वैसा ही है जैसे पहले था। ये फिल्म आज न केवल सिनेमा के निर्माण के लिए अपितु ये सिनेमा के दर्शकों के लिए भी एक मानक बन चुकी है। इस फिल्म के संवाद तो इतने मशहूर हुए कि ये संवाद आज हर सिनेमा-प्रेमी भारतीय की ज़ुबान पर है जैसे 'कीमत जो तुम चाहो, काम जो मैं चाहूँ', 'बहुत याराना लगता है', 'जो डर गया समझो मर गया', 'कितने आदमी थे', 'अब तेरा क्या होगा कालिया' आदि। इनमें से कुछ तो लोकोक्तियों के रूप में भी प्रचलित हो चुकी हैं।

जैसा कि इस फिल्म के एक संवाद में कहा गया है कि 'इस स्टोरी में इमोशन है, ड्रामा है, ट्रेजिडी है', उसी के अनुरूप ये भावनाओं का एक सागर है और ऐसा लगता है कि इसकी यही विशेषता इसकी लोकप्रियता का एक महत्वपूर्ण कारण है। इसलिए इस फिल्म की सफलता में भावों व रसों की भूमिका को समझना एक आवश्यक और दिल्चस्प कार्य होगा जिससे हमारे सिनेमा पर हमारे शास्त्रीय ग्रंथ (नाट्यशास्त्र) के प्रभाव को भी देखा जा सकता है।

******

7. 'Sholay : The Making of a Claasic' - Anupamaa acahopraa – page 5,6

चतुर्थ अध्याय

‘शोले’ फिल्म : परिचय एवं महत्व

4.1. ‘शोले’ फिल्म का कथानक

4.2. ‘शोले’ फिल्म के कलाकार

4.3. शोले फिल्म : समीक्षा और महत्व

4.4. ‘शोले’ फिल्म को प्राप्त पुरस्कार व सम्मान

15 अगस्त 1975 को गोपाल दास सिप्पी के निर्माण में रमेश सिप्पी द्वारा बनायी गयी एवं सलीम-जावेद द्वारा लिखी गयी, भारतीय सिनेमा के इतिहास के एक मील के पत्थर - 'शोले' का जन्म हुआ। इस फिल्म के बारे में प्रमुख निर्देशक धर्मेश दर्शन कहते हैं कि-

"It is a part of our heritage as Indians"[1]

अर्थात यह फिल्म आज मात्र एक अद्भुत फिल्म नहीं रह गयी है अपितु भारतीय विरासत का एक हिस्सा बन चुकी है। हिंदी सिनेमा के इस अपूर्व निर्माण की कथावस्तु, को जानकर उसकी समीक्षा करते हुए उसके महत्व को हम यहां समझने की कोशिश करेंगे।

4.1). 'शोले' फिल्म का कथानक:-

रामगढ़ नाम के एक छोटे से और अत्यंत सुंदर गाँव में स्थित यह कहानी एक सेवानिवृत्त पुलिस अधिकारी 'ठाकुर बलदेव सिन्ह' का अपने गाँव एवं गाँव वालों को डाकू 'गब्बर सिंह' के खौफ व अत्याचार से बचाने के लिए 'जय देव' एवं 'वीरू' नाम के दो चोर-बद्माशों को बुलाकर उनकी मदद लेने की कहानी है। ये दोनों वह चोर होते हैं जिन्हें ठाकुर ने एक बार गिरफतार किया था और तब उनकी बहादुरी और चोर होने के बावजूद उनमें छिपी मानवीयता को देखकर वह इस काम के लिए उन दोनों को उपयुक्त मानता है। गब्बर सिंह एक कुख्यात डाकू था जिसको जीवित या मृत पुलिस के हावाले करने पर 50000 रुपये का इनाम तो पहले से था ही साथ ही गब्बर से अपना बदला चुकाने के लिए ठाकुर जय और वीरू से ये वादा लेता है कि वो गब्बर को जीवित ही ठाकुर को सोंपे और इसके लिए उन दोनों को 20000 रुपये का अतिरिक्त इनाम भी देने का वादा करता है। पैसों की लालच में आकर जय और वीरू ये काम करने के लिए राज़ी हो जाते हैं और एक दिन जब गब्बर के तीन अदमी गाँव वालों से अनाज लूटने आते हैं तो ये दोनों उन तीनों से लड़कर उन्हें भगा देते हैं। तब फिल्म में गब्बर सिंह का प्रवेश होता है और वह अपने तीन आदमियों का केवल दो आदमियों से हारकर वापस लौट आने से खूब नाराज़ हो जाता है और उन्हें मार देता है। फिर इस अपमान का बदला लेने के लिए गब्बर होली के दिन रामगढ़ पर आक्रमण करता है और जय तथा विरू को बंधक बनाने में कामयाब होता है। तब ठाकुर को उनकी मदद कर पाने की स्थिति में पाकर भी उनकी मदद न करते हुए देखने पर जय और वीरू क्रोधित होते हैं। फिर किसी तरह वे दोनों गब्बर सिन्ह के बंधन से बचकर निकलते हैं और ठाकुर के पास जाकर अपने नारज़ होने तथा काम छोड़कर चले जाने की बात कहते हैं तब ठाकुर फ्लैशबैक में उसका गब्बर को

[1] 'Sholay – the making of a classic' - Anupama chopra, penguin books, hariyana, page -3 (उद्धृत)

गिरफतार करने और उसके बदले में जैल से भागे हुए गब्बर का बहुत बेरहमी से उसके पूरे परिवार (छोटी बहु राधा को छोड़कर) को मार ड़ालने तथा उसके दोनों हाथ काट ड़ालने की कहानी सुनाता है। इस बात को छिपाने के लिए ठाकुर हमेशा एक शॉल ओढ़कर रहता है। यह कहानी सुनकर जय और वीरू भावुक हो जाते हैं तथा उनके अंदर की मानवता जाग उठती है। इसलिए वो दोनों ठाकुर के पास जाकर पैसे लिए बिना गब्बर को उसे ज़िंदा सौंपने का वाद करते हैं।

अब इस गाँव में रहते हुए जय और वीरू गाँव वालों को और गाँव वाले उनको पसंद करने लग जाते हैं। इसी गाँव में दोनों के जीवन में प्रेम का आगमन भी होता है। जय जहां ठाकुर साहब की विधवा बहु 'राधा' को दिल दे बैठता है तो वही वीरू उस गाँव में तांगा चलाने वाली 'बसंती' के प्यार में पड़ जाता है और उसकी मौसी को उन दोनों की शादि कराने के लिए मना भी लेता है। दूसरी तरफ ठाकुर खुद राधा के पिता से बात करके राधा और जय का रिश्ता तय कर देता है। इसी बीच जय और वीरू का गब्बर और उसके आदमियों के साथ टकरार होता रहता है। इसी सिलसिले में बूढ़े 'ईमाम साहब'/ 'रहीम चाचा' अपने जवान बेटे 'अहमद' को खो देते हैं। फिर एक दिन गब्बर के आदमी बसंती को घेर लेते हैं। तब बसंती अपनी घोड़ी 'धन्नो' की सहायता से उनसे बचने की कोशिश करती है और वीरू भी बात जानकर बसंती को बचाने निकल पड़ता है और दुर्भाग्यवश दोनों गब्बर के बंधी हो जाते हैं। जय उन दोनों को बचाने जाता है और अपने कार्य में सफल भी होता है मगर इस लड़ाई में गोली खाकर अपनी जान गवाँ बैठता है। अपने जान से प्यारे मित्र की मृत्यु से अत्यंत दुःखी व क्रोधित वीरू आक्रोश में अकेले गब्बर से लड़ने चला जाता है और इस लड़ाई में वह गब्बर को मारने ही वाला होता है कि ठाकुर आकर उसे जय का गब्बर को ज़िंदा उसको सौंपने का वादा याद दिलाता है। तब अपने दोस्त की बात रखने के लिए वीरू अपना क्रोध शमित कर गब्बर को ठाकुर के हवाले कर देता है। ठाकुर अपने नुकीले जूतों से गब्बर को खूब मारता है, उसके हाथ कुचल देता है और फिर उसे मारने ही वला होता है कि तभी वहां पुलिस आ जाती है और उसे कानून को अपने हाथों में न लेने का सुझाव देती है। ठाकुर कानून के प्रती अपनी ज़िम्मेदारी समझते हुए गब्बर सिंह को पुलिस के हवाले कर देता है। इस तरह कहानी के मुख्य पात्र ठाकुर का बदला भी पूरा हो जाता है और गाँव वाले गब्बर सिन्ह के खौफ से बच भी जाते हैं। अपने मृत मित्र की याद में दुःखी वीरू को बसंती सहारा देती है। मगर दूसरी तरफ जय और राधा की प्रेम कहानी अधूरी रह जाती है और राधा की बेरंग ज़िंदगी, जिसमें पुनह रंग भरने के सपने उसके दिल में जाग उठे थे, फिर से बेरंग हो जाती है।

4.2). ‘शोले’ फिल्म के कलाकार:-

1. निर्माता - गोपाल दास सिप्पी

2. निर्देशक - रमेश सिप्पी

3. कथा, पटकथा व संवाद लेखक - सलीम खान एवं जावेद अख्तर (सलीम-जावेद)

4. ठाकुर बलदेव सिंह - संजीव कुमार

5. जय देव - अमिताभ बच्चन

6. वीरू - धर्मेंद्र

7. राधा - जया भादुरी

8. बसंती - हेमा मालिनी

9. गब्बर सिंह - अमजद खान

10. ईमाम साहब/ रहीम चाचा - ए. के. हंगल

11. अहमद (इमान साहब का बेटा) - सचिन

12. रामलाल - सत्येंद्र कपूर

13. नर्मलाजी (राधा के पिता) - इफ्तेखार

14. मौसी (बसंती की मौसी) - लीला मिश्रा

15. जेलर - असरानी

16. साँभा - मैक मोहन

17. कालिया - विजू खोटे

18. सूरमा भोपाली - जगदीप

19. अतिथि पात्र - नर्तकी (‘महबूबा ओ महबूबा’ गाने में) – हेलन, गायक (‘महबूबा ओ महबूबा’ गाने में) - अलाल आग़ा

20. गायक-गण	-	किशोर कुमार, लता मंगेशकर, राहुल देव बर्मन
21. गीत लेखक	-	आनंद बक्शी
22. संगीत निर्देशक	-	राहुल देव बर्मन
23. नृत्य निर्देशक	-	पी, एल. राज
24. छायाकार	-	द्वारका दिवेचा
23. संपादक	-	एम. एस. शिंदे

फिल्म के पात्र चयन में एक दिलचस्प बात यह है कि फिल्म के चार मुख्य पात्रों (जय, वीरू, ठाकुर और गब्बर) के लिए अभिनेताओं की पहली पसंद वें नहीं थे जो आज हमें उन पात्रों में दिखते हैं। गब्बर सिंह की भूमिका के लिए पहले 'डैनी डेंजोगपा' को चुना गया था। बाद में उन्हों ने उसी वक्त फिल्मांकित की जाने वाली उनकी दूसरी फिल्म के चलते इसे मना कर दिया और इसलिए 'अमजद खान' को इस पात्र के लिए चुना गया। जय के पात्र के लिए सिप्पी जी की पहली पसंद 'शत्रुघन सिंहा' थें मगर उनके मना करने के बाद 'अमिताभ बच्चन' को ये किरदार निभाने का मौका मिला। वें तब उतने प्रसिद्ध नहीं हुए थे और इसलिए इस किरदार को पाने के लिए उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ा। ठाकुर बलदेव सिंह के पात्र के लिए पहले 'प्राण' को चुना गया था फिर सलीम-जावेद ने इस पात्र के लिए 'दिलीप कुमार' से भी बात की मगर इन दोनों के मना करने के बाद 'संजीव कुमार' इस किरदार के लिए चुने गये। एक किस्सा यह भी है कि संजीव कुमार गब्बर सिन्ह की भूमिका निभाना चाहते थे मगर सलीम-जावेद को लगा कि गब्बर के किरदार को दर्शकों द्वारा जितना घृणित होना था वह संजीव कुमार के अभिनय में उतना घृणित नहीं बनता क्यों कि संजीव कुमार के इससे पहले के किरदारों के कारण दर्शकों में उनके लिए सहानुभूति थी। वीरू के किरदार के लिए चुने गये 'धर्मेंद्र' वीरू की जगह ठाकुर बलदेव सिंह का किरदार निभाने में अधिक उत्सुक थे। मगर फिर जब उनको पता चला कि उनके ठाकुर बनने पर संजीव कुमार को बसंती (हेमा मालिनी) के जोड़ीदार वीरू का किरदार निभाने का मौका मिल जायेगा तब उन्होंने अपना मन बदला। न केवल पात्र अपितु सलीम-जावेद ने गोपाल दास सिप्पी और रमेश सिप्पी के निर्माता-निर्देशक जोडी को ये कहानी सुनाने से पहले अन्य दो निर्माता-निर्देशक की जोड़ियों को भी सुनायी थी जिन्होंने इसे बनाने से मना कर दिया था। इस प्रकार अनेक बदलावों के बाद फिल्म के लिए श्रेष्ठतम कलाकार-गण का निर्माण हुआ जिनके सहयोग ने आज इस फिल्म को इतनी ऊंचाई प्रदान की।

4.3). 'शोले' फिल्म : समीक्षा और महत्व:-

'शोले' फिल्म इतनी महत्वपूर्ण क्यों है इस बात का जवाब एक वाक्य में दिया जा सकता है कि अपने रिलीज़ के 43 वर्ष बाद आज भी ये फिल्म उतनी ही ताज़ा और आकर्षक है जितनी कि अपने शुरुआती दौर में थी और हमेशा रहेगी। आज भी वह अपने दर्शकों को कहीं पर भी ऊब महसूस नहीं होने देती। इस पर फिल्मकारा अनुपमा चोपड़ा ने कहा है कि-

"It has a timeless quality and reveals something new everytime you watch it."[2]

अर्थात यह फिल्म एक कालजयी कलाकृति है और यह हर बार अपने दर्शकों को कुछ नया परोसती है। वास्तव में देखा जाये तो इस फिल्म की कहानी कुछ नयी नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि ये फिल्म 'मेरा गँव मेरा देश' के तर्ज पर बनी है तो कुछ और लोग इस फिल्म की कथावस्तु को 1954 में अकीरा कुरोसवा की 'सेवन समुरिआ' और 1960 की जान स्टर्जस की 'द मेगनीफीसिअंट सेवन' के करीब मानते हैं। पुरानी कथावस्तु को दोहराने के बावजूद इस फिल्म को न केवल क्लासिक अपितु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बनाने वाला तत्व है उसकी प्रस्तुति। इस फिल्म के हर एक छोटे-बड़े तत्व को बहुत ध्यान से सोच-समझकर और बहुत ही सादगी से सजाकर पेश किया गया है। यह एक ऐसी खाने की थाली है जिसका हर एक पदार्थ अपने में बहतरीन है। यह फिल्म इस बात का प्रमाण है कि भले ही कही हुई बात नयी न हो लेकिन उसे कहने के तरीके की मौलिकता में असली दम है। सलीम खान और जावेद अख्तर ने इस फिल्म की ज़बरदस्त कथा-पटकथा और स्क्रीनप्ले लिखी। इस फिल्म के पात्र, संवाद, संगीत, फिल्मांकन सब उत्तम दर्जे के हैं। यह एक ऐसा मल्टीस्टारर फिल्म है जिसमें उस वक्त के स्रेष्ठतम अभिनेता-अभिनेत्रियों का संयोग हुआ।

फिल्म का पात्र-नियोजन इतना बेहतरीन है कि इस फिल्म का हर एक छोटे से छोटा किरदार इस कहानी को कहने में अपनी अहम भूमिका रखता है। मानव पत्रों की क्या बात करें इस फिल्म का जानवर भी दर्शकों के मन मे घर कर लेता है। बसंती के तांगे को खींचने वाली 'धन्नो' (घोड़ी) न केवल बसंती को रोज़गार प्रदान करती है अपितु समय आने पर गब्बर के आदमियों से भागती हुई बसंती को उनसे बचने में मदद भी करती है। यहां बसंती का एक संवाद है जहां वो कहती है- 'चल धन्नो चल आज तेरी बसंती की इज़्ज़त का सवाल है।'। तो जिस फिल्म का एक जानवर

---

2 . http://www.bbc.com/culture/story/20150813-sholay-the-star-wars-of-bollywood., (उद्धृत)

दर्शकों को इतना मोहित कर सकता है कि 'धन्नो' का नाम फिल्म देखने के बाद दर्शकों की ज़ुबान से नहीं उतरता तो उस फिल्म के मानव पात्रों की तो बात ही करने की आवश्यकता नहीं है। पूरी दुनिया के सिनेमा में शायद ही ऐसा कोई सिनेमा रहा होगा जिसके लगभग सभी पात्र फिल्म देखकर बाहर आने के बाद भी दर्शकों के मन में घूमते हो। आज 43 सालों के बाद भी इसके पात्र लोगों के मन में इतने सजीव हैं कि इसी से इस फिल्म के चरित्रों के निर्माण कार्य की कुशलता का पता चलता है। जय, वीरू, बसंती, ठाकुर, गब्बर को अगर छोड़ भी दे, क्यों कि ये फिल्म के मुख्य किर्दार है, फिर भी ऐसे अनेक पात्र हैं जो दर्शकों को उसी प्रकार याद रह जाते हैं जिस प्रकार मुख्य पात्र याद रह जाते हैं जैसे- 'सांभा', 'कालिया', 'सूरमा भोपाली', बसंती की 'मौसी', 'रामलाल', 'रहीम चाचा', उनका बेटा, अँग्रेजों के ज़माने का 'जेलर' आदि। इस संदर्भ में अनुपमा चोपड़ा कहती हैं कि-

"Every character gets a moment in the sun. Even the peripheral characters are memorable like basanti's damn horse 'dhanno'"[3]

अर्थात इस फिल्म के हर एक पात्र का अपना महत्व है और फिल्म के छोटे से छोटे पात्र भी स्मरणीय हो जाते हैं। भारतीय सिनेमा के इतिहास का ये एकमात्र ऐसा सिनेमा है जिसके पात्रों के नामों पर या पात्रों से प्रभावित अनेक फिल्में बनायी गयी हो जैसे- 1988 में आयी जगदीप की 'सूरमा भोपाली', 20007 में 'शोले' की कहानी पर बनी 'आग', 2009 में आयी पुनीत सिरा की 'जय वीरू', 2015 में आयी निर्देशक कृष की 'गब्बर इज़ बैक' आदि। न केवल हिंदी सिनेमा में अपितु अन्य भाषाओं के सिनेमा में भी इसका प्रभाव देखा जकता है जैसे तेलुगू सिनेमा की 2012 की फिल्म 'गब्बर सिंह'। जय और वीरू की यारी के किस्से तो इतने मशहूर हो गये कि फिल्म के रिलीज़ से लेकर आज तक पक्की दोस्ती की मिसाल देनी हो तो सबसे पहले जय और वीरू की दोस्ती की मिसाल दी जाती है। गब्बर सिंह तो इस फिल्म का खज़ाना है। ये पात्र अन्य सभी पात्रों से ज़्यादा जनता के हृदय में घर कर गया है। यह पात्र कुपात्र व भयानक होने के बावजूद पूरी फिल्म का सबसे मज़बूत पात्र है। इसका प्रमाण ये है कि मुंबई के जिस मिनर्वा सिनेमाघर में ये फिल्म लगातर 5 सालों तक चली उसके पहले वर्ष में उसके पोस्टर पर सभी मुख्य पात्र समान रूप से अंकित किये गये थे मगर दूसरे वर्ष में उसे अकेले गब्बर सिन्ह के एक बड़े चित्र के पोस्टर से बदल दिया गया था। इतना ही नहीं उस वक्त 'ब्रिटेनिया ग्लूकोस डी' नामक एक बिस्कुट के विज्ञापन में गब्बर सिंह का इस्तेमाल हर उसे कहा गया था- ग्लूकोस डी – गब्बर की असली

3. http://www.bbc.com/culture/story/20150813-sholay-the-star-wars-of-bollywood (उद्धृत)

पसंद। इसके अतिरिक्त ‘ओरल बी’ का विज्ञपन भी उस समय ‘शोले’ की कथानक के तर्ज पर बनायी गयी। फिल्म के जितने संवाद लोगों की ज़ुबान पर आज तक हैं उनमें भी सबसे ज़्यादा गब्बर सिन्ह के ही हैं।

‘शोले’ की एक और खास बात ये है कि इस फिल्म के संवाद इतने सशक्त और प्रभावशाली हैं कि यही इस फिल्म का एक मज़बूत स्तंभ है। सिनेमा के इतिहास में शायद ही ऐसी फिल्म होगी जिसके अनेकों संवाद जनता की रोज़मर्रा की ज़िंदगी में इस तरह स्थान बना चुकी हैं कि लोग आज भी इसके कई संवादों को न केवल अपने बातचीत में प्रयुक्त करते हैं अपितु उनसे संबंधित चुटकलियाँ भी मारते हैं। ‘कितने आदमी थे’, ‘अब तेरा क्या होगा कालिया’, ‘होली कब है’, ‘जो डर गया समझो मर गया’, ‘ये हाथ हमको दे दे ठाकुर’, ‘तुम्हारा नाम क्या है बसंती’, ‘हम अंग्रेज़ों के ज़माने के जेलोर हैं’, ,बसंती इन कुत्तों के सामने मत नाचना’आदि इस फिल्म के ऐसे संवादों में से मात्र कुछ हैं जो यहां अविस्मरणीय हैं। इतना ही नहीं ‘शोले’ के संवाद इतने लोकप्रिय हुए कि इस फिल्म का आडियो कैसेट निकाला गया। इसके संवादों में इतना दम है कि बिना दृश्यों के केवल इसके संवादों को सुनकर इस फिल्म का मज़ा लिया जा सकता है।

फिल्म के किरदारों और संवादों के बाद फिल्म के संगीत की बात करें तो वह भी फिल्म की पहचान बनाने में अपनी अहम भूमिका निभाता है। चाहे वह इस फिल्म के गाने हो या बैकग्राउंड स्कोर/ नेपथ्य संगीत आर्. डी. बर्मन ने इस फिल्म को ऐसा संगीत दिया जो याद रह जाये। खासकर फिल्म का ‘ये दोस्ती’ नामक गीत इतना लोकप्रिय हुआ है कि वह जैसे दोस्ती का प्रतिनिधी गीत हो गया और जय-वीरू आदर्श दोस्तों के प्रतीक बन गये। आज भी भारत में और खासकर हिंदी प्रदेशों में दोस्तों को याद करते ही जो पहला गीत लोगों के मस्तिष्क में आता है वह यही गीत है। फिल्म में गब्बर सिंह के प्रवेश के समय जो डरावना बैकग्राउंड स्कोर बजता है वास्तव में उसने गब्बर के व्यक्तित्व को उससे और अधिक ड़रावना और खौफनाक बनाया जितना कि वह दिखता है। फिल्म में जय और राधा के दृश्यों में जय का माउथ ऑर्गन बजाना और वह मधुर धुन ही जय और राधा के मूक प्रेम कहानी में जान ड़ालता है। फिल्म के अंत में जब जय की मृत्यु होती है तब उसके वियोग में विलाप करते हुए वीरू को और इस पूरे दृश्य को अत्यंत मार्मिकता के साथ दर्शकों के ह्रदय को छूने वाला बनाने के पीछे भी जितनी भूमिका अभिनय की है उतनी ही भूमिका गीत-संगीत की भी है। ‘शोले’ में हमें उस युग की आवश्यकता के अनुरूप नारीवाद के झलक भी देखने को मिलते हैं। एक तरफ गाँव की लड़की बसंती को काम करते हुए घर चलाने वाली स्वतंत्र व स्वाभिमानी स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है तो दूसरी तरफ एक

विधवा स्त्री राधा के दूसरे विवाह की बात चलाना और उसी के ससुर द्वारा उसके पिता को समाज की बातों की चिंता न करते हुए राधा की आगे की ज़िंदगी के बारे में सोचकर उसकी दूसरी शादी कराने की बात करना तत्कालीन समाज में स्त्रियों के संबंध में निस्संदिग्ध रूप से बहुत ही प्रगतिशील विचार दिखायी पड़ते हैं।

कोई भी कलाकृति तत्कालीन समाज की उपज होती है और 'शोले' भी इसका अपवाद नहीं है। फिल्म की कहानी को ध्यान से समझने पर तत्कालीन समाज में फैला भ्रष्टाचार, जनता का कानून और कानून के संकायों पर से उठ चुका विश्वास साफ झलकता है। जैसा कि देखा गया है यह कहानी एक सेवानिवृत्त ईमानदार पुलिस अधिकारी की है जो एक कुख्यात डाकू, जिसने एक बार उसके हाथ काट दिये थे, से अपना बदला लेने और गाँव की रक्षा करने के लिए पुलिस की मदद न लेकर दो अपराधी युवकों की मदद लेता है। यहां सोचने वाली बात यह है कि फिल्म का नायक (ठाकुर) मदद के लिए पुलिस के पास क्यों नहीं जाता और इसका जवाब है तत्कालीन समाज में कानूनी संकायों में फैले भ्रष्टाचार से तंग आ चुकी जनता की निगाहों में पुलिस-व्यवस्था का गिर जाना। इतना ही नहीं फिल्म का वास्तविक अंत वैसा चित्रित नहीं किया गया था जैसा कि आज है। पहले फिल्म के अंत में ठाकुर गब्बर सिंह को स्वयं मार ड़ालता है मगर 1975 की आपातकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए केंद्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड ने इसका अंत बदलने का आदेश दिया और इसलिए ठाकुर द्वारा गब्बर को कानून के हवाले कर देने का अंत फिल्माया गया ताकि दर्शकों को कानून की इज़्ज़त करने का संदेश दिया जा सके। 'शोले' का फिल्मांकन कर्नाटक के रामनगर क्षेत्र के चट्टानी इलाके में हुआ था। स्थान का यह चयन भी फिल्म की सफलता में अहम भूमिका निभाती है। ऐसा लगता है कि यह चट्टाने परिस्थिति के अनुकूल हर भावना को उद्दीप्त करने में सहायक हुई हैं।

समग्रता में देखा जाये तो एक ऐक्शन फिल्म होने के बावजूद इस फिल्म को देखकर दर्शक अनेक प्रकार की भावनाओं का मज़ा ले पाते हैं। ऐक्शन के दृश्य तो इस फिल्म में कमाल के हैं ही साथ ही इसमें हास्य, शोक-करुणा, रूमानियत आदी सब इस तरह परोसे गये हैं जिस तरह एक सजा हुआ रंग-बिरंगे फूलों का गुल्दस्ता हो। इतनी श्रेष्ठ फिल्म होने के बावजूद इस फिल्म को अपने शुरूआती दिनों में नकारात्मक समीक्षा का सामना करना पड़ा था। फिर कुछ हफ्ते बाद धीरे-धीरे ये फिल्म समीक्षकों और दर्शकों की प्रशंसाएँ पाने लगा। इतना ही नहीं हिंदी सिनेमा के इतिहास में ये पहली बार हुआ था कि दो हफ्ते बाद फिल्म की पहले नकारात्मक समीक्षा करने के लिए एक फिल्म पत्रिका ने क्षमापत्र भी प्रकाशित किया था।

4.4). 'शोले' फिल्म को प्राप्त पुरस्कार व सम्मान:-

'शोले' को उस वर्ष के 'फिल्मफेयर' पुरस्कारों में 9 पुरस्कारों के लिए नामांकित किया गया जिसमें उसने सर्वश्रेष्ठ संपादक का पुरस्कार (एम एस शिंदे) प्राप्त किया था। 1999 में बी बी सी इंडिया ने इसे 'सहस्त्राब्ध की फिल्म' घोषित किया था। उसी बी. बी. सी ने फिल्म के खलनायक गब्बर सिन्ह की तुलना हॉलीवुड के 'स्टार वार्स' के खलनायक 'डार्थ वेदर' से करते हुए 'शोले' को बॉलीवुड का 'स्टार वार्स' कहा क्यों कि उनके हिसाब से 'शोले' ने बॉलीवुड पर जो प्रभाव ड़ाला वही प्रभाव हॉलीवुड पर 'स्टार वार्स' ने ड़ाला था। फिर साल 2002 में ब्रिटिश फिल्म इंस्टिट्यूट की 10 सर्वश्रेष्ठ भारतीय फिल्मों की सूची में इसने प्रथम स्थान प्राप्त किया। 2004 में दस लाख ब्रिटिश-भारतीयों का स्कार्ड डिजिटल द्वारा जो सर्वेक्षण किया गया उसमें इसे सर्वश्रेष्ठ भारतीय फिल्म का दर्जा दिया गया। साल 2010 में टाइम्स मैगज़ींज़ की 'बेस्ट आफ बॉलीवुड' सूची में भी यह फिल्म शामिल की गयी। इतना ही नहीं 2013 में सी. एन. एन – आई. बी. एन ने 100 महानतम भारतीय फिल्मों की सूची निकाली जिसमें भी 'शोले' ने सम्मानित स्थान प्राप्त किया। इन पुरस्कारों और सम्मानों के अतिरिक्त इस फिल्म की अन्य भी उपलब्धियाँ थी जैसे इसके बाद से हिंदी सिनेमा में वेस्टर्न शैली के तर्ज पर फिल्म-निर्माण मुख्य धारा में स्थापित हुआ। इस फिल्म ने हिंदी सिनेमा जगत में पटकथा लेखकों को वह पहचान दिलायी जिसके वें हक़दार हैं। फिल्म के खलनायक गब्बर सिन्ह ने हिंदी फिल्मों में खलनायकों के एक ऐसे युग का प्रचलन किया जहां खलनायक की कहानी को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका हो। ये हिंदी सिनेमा के इतिहास के सबसे प्रतिष्ठित खलनायक हैं। 'शोले' फिल्म का फिल्मांकन कर्नाटक राज्य के जिस रामनगर क्षेत्र में किया गया था उसके एक भाग को 'शोले' के निर्देशक रमेश सिप्पी के नाम पर 'सिप्पीनगर' नाम भी दिया गया है। 3 जनवरी 2014 को इस फिल्म का 3डी वर्शन बनकर रिलीज़ हुई। इस फिल्म ने नये अभिनेता अमजद खान और कम प्रसिद्ध अमिताभ बच्चन को प्रसिद्धि के शिखरों तक पहुंचाया। यह तो फिल्म के मुख्य पात्रों की बात थी। इस फिल्म में छोटे से छोटे पात्रों को निभाने वाले भी समाज में अत्यंत पहचान प्राप्त कर रहे थे जैसे फिल्म में मात्र एक संवाद - 'पूरे पचास हज़ार' बोलने वाले सांभा का इस फिल्म की प्रसिद्धी से ज़िंदगी भर के लिए 'सांभा' नामकरण हो गया। समग्रता में ये कहना अतिशयोक्ति कतिपय नहीं होगी कि 'शोले' ने भारतीय इतिहास की उन चंद फिल्मों मे अपना स्थान बनाया है जो न केवल क्लासिक फिल्में हैं अपितु समाज में मिथकीय दर्जा प्राप्त कर चुकी हैं।

******

पंचम अध्याय

‘शोले’ फिल्म की रस-योजना

5.1. सिनेमा का सौंदर्यशास्त्र तथा ‘शोले’ फिल्म

5.2. ‘शोले’ फिल्म का संधि-विवेचन

5.3. ‘शोले’ फिल्म का अंगीरस

5.4. ‘शोले’ फिल्म के अंगभूत रस

5.5. ‘शोले’ फिल्म में अभिव्यक्त विरोधी-रस

5.6. ‘शोले’ फिल्म में रसदोष व रसाभास

5.1). सिनेमा का सौंदर्यशास्त्र तथा 'शोले' फिल्म :-

सिनेमा के प्रकारों में हमने देखा कि व्यावसायिक सिनेमा और कला सिनेमा, सिनेमा के दो प्रकार हैं। मात्र मनोरंजन और व्यवसाय को उद्देश्य बनाकर बनायी गई फिल्मों को छोड़ देने पर जो सिनेमा दृश्यों और ध्वनियों के माध्यम से अपने दर्शकों को स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करते हुए उनके हृदय को रचनात्मक आनंद भी प्रदान करता है तथा उन्हें उनके वास्तविक जीवन और जगत की चुनौतियों का सामना करने का साहस देता है वह सिनेमा कलात्मक होता है। ऐसे सार्थक सिनेमा के ही सौंदर्यशास्त्र की हम यहां बात कर रहे हैं। उपभोक्तावाद के सिद्धांत पर काम करने वाली फिल्में समाज में दुष्प्रभाव फैलाने का कारण बन जाती हैं जबकि समर्थ व सार्थक फिल्में ऐसी कलाकृतियाँ होती हैं जिनका सूक्ष्म व गंभीर अध्ययन करने से सौंदर्य की नयी अंतर्दृष्टि पैदा होती है। हमारे शास्त्रों में कला के दृश्य, श्रव्य व दृश्य-श्रव्य रूप बताये गये हैं और उसके अंतर्गत नाटक को दृश्य-श्रव्य कला-माध्यम माना गया है मगर समय के परिवर्तन के साथ आधुनिक तकनीकी उपलब्धियों से युक्त उसी नाटक के आधुनिक स्वरूप सिनेमा को कला का दर्जा देने और गंभीरता से उस पर विचार-विमर्श करने का प्रयास हमारे समाज में बहुत समय तक नहीं हुआ। कैमरे के कलम से निकली कलाकृति सिनेमा है। सौंदर्य के अभाव में कला का अस्तित्व असंभव है। अच्छी कलात्मक फिल्मों में सौंदर्यबोध के दर्शन अवश्य होते हैं। हिंदी सिनेमा का यह सौंदर्यबोध भारत के सौंदर्य के शास्त्रीय पैमानों से निर्मित है। सौंदर्य चेतना भारतीय हो या पाश्चात्य उसका स्वरूप आनंद या प्रीति व विस्मय के मिश्रण से निर्मित होता है। इन दोनों में भी प्रीति सौंदर्य का मूल तत्व होती है। किसी भी वस्तु को देखकर अगर हमें आनंद की अनुभूति हो तभी हम उसको सुंदर मानते हैं। इसी प्रकार भारतीय शास्त्रकारों ने कला के भी दो मुख्य उद्देश्य बताये हैं जो प्रत्यक्ष रूप से अपने सामाजिकों को आनंद प्रदान करना तथा परोक्ष रूप से उनका चरित्र निर्माण करना हैं। इस प्रकार भारतीय सौंदर्यबोध और कलात्मक बोध दोनों में अहम भूमिका निभाने वला तत्व है आनंद या प्रीति। इस आनंद तत्व का शास्त्रीय निरूपण ही रस-सिद्धांत है। इसलिए हर सौंदर्यशास्त्रीय रस व आस्वादन से ही सौंदर्य की व्याख्या करना आरंभ करता है।

रस आनंद का परम आस्वादन रूप है जिसका अनुभव अधिकारी सामाजिक को ही हो पाता है। यह अधिकार यत्नसाध्य नहीं अपितु सहज बोध वाला होता है। जैसे कि काव्यशास्त्र के रस-सिद्धांत पर विचार-विमर्श करने वाले आचार्य (अभिनव गुप्त, विश्वनाथ आदि) कहते हैं रस का आस्वादन कुछ ही लोगों को हो पाता है जिनमें स्थायी भाव जन्मजात संस्कारों के रूप में विद्यमान हो और यह सत्वोद्रेक की स्थिति में ही संभव होता है। साधारण मनोरंजन से भी आनंदानुभूति होती है मगर साधारण मनोरंजन में सौंदर्यानुभूति नहीं होती। सौंदर्यबोध सामान्य मनोरंजन से बढ़कर होता है तथा

निर्विघ्न व आस्वादात्मक प्रतीति से उत्पन्न रसों के आस्वादन से उद्भूत होता है। सामान्य मनोरंजन सुख-दुःख का अनुभव मात्र कराता है जबकि रसास्वाद की प्रक्रिया में सामाजिक इंद्रियों से अनुभूत भौतिक सुख-दुःखों से ऊपर उठकर परम आनंद की अनुभूति करता है जो दुःखात्मक हो ही नहीं सकता। सामान्य मनोरंजन की स्थिति में सामाजिक में अहंकार व उपयोगितावादी बुद्धि विद्यमान रहती है और वह कलाकृति को एक अन्य पुरुष की निगाहों से ही देखता है मगर इस अहंकार का त्याग कर मूल्यबोध के साथ किसी कलाकृति में डूब जाने पर उसके असली सौंदर्य का बोध होता है। यही मात्र मनोरंजन के साधन का काम करने वाले आम सिनेमा और अच्छे कलात्मक सिनेमा में मूलभूत अंतर है। मूल्यबोध के अंतर के कारण भारतीय कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट साबित हुई अनेक भारतीय फिल्में पश्चिमी सिने-मानदंडों पर खरा नहीं उतर पायी। इस संदर्भ में एक बार हिंदी सिनेमा के दिग्गज कलाकार 'अमिताभ बच्चन' ने कहा था कि 'क्यों हम विदेशी सम्मानों के लिए आतुर हैं, हिंदी सिनेमा में कुछ फिल्में, जो शायद कभी विश्वपटल पर अधिक सम्मानित व चर्चित नहीं हो सकी पर वे भारतीय मानकों से सर्वश्रेष्ठ रही हैं, उनकी बातें करते हैं।' वास्तव में सौंदर्यानुभूति देश-काल की सीमाओं से अतीत होती है मगर सौंदर्य के मानक अवश्य देश-काल व परिस्थितियों के अनुसार निर्मित होते हैं। इस कथन को पुष्ट करने के लिए डॉ. अनुपम ओझा द्वारा लिखित यह वाक्य दृष्टव्य है-

"विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों मे सौंदर्य के पृथक-पृथक आदर्श जन्म लेते और पोषित होते हैं तथा युगानुरूप भावनाओं से वे संस्कार ग्रहण करते चलते हैं। विकास और ह्रास के क्रम भी उनमें विद्यमान रहते हैं।"[1]

विभिन्न जातियों के आक्रमणकारियों के संस्कृति-सभ्यता से प्रभावित भारतीय सौंदर्यबोध इसका उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि-

"आने वाली संस्कृतियों ने जहां एक तरफ कला, साहित्य तथा सौंदर्य संबंधी सिद्धांतों के अद्यावधि विकास को अवरुद्ध किया है तो दूसरी तरफ कुछ जोड़ा भी है।"[2]

इस तरह कलात्मक सौंदर्य से युक्त सिनेमा अपने दर्शकों को निर्विघ्न आनंदानुभूति कराता है। सौंदर्यबोध के मानक देश-काल के निमित्तों से निर्मित हो सकते हैं मगर वास्तविक सौंदर्यानुभूति देशकालातीत होती है। उदाहरण स्वरूप किसी विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र में मीठा खाना पसंद किया जाता है तो किसी दूसरे क्षेत्र में तीखा खाना पसंद किया जाता है, मगर इन दोनों ही क्षेत्रों में अपने-

[1]. 'भारतीय सिने-सिद्धांत'- डॉ. अनुपम ओझा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ - 16

[2]. 'भारतीय सिने-सिद्धांत'- डॉ. अनुपम ओझा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ - 18

अपने मानकों के अनुसार स्वादिष्ट भोजन का आस्वादन करते हुए भोक्ता जो आनंदानुभूति करता है वह समान ही होती है।

सिनेमा के प्रेक्षकों में कुछ सवाल उत्पन्न हो सकते हैं कि अगर रसास्वादन की अनुभूति सबके लिए समान होती है तो ऐसा क्यों होता है कि कुछ फिल्मों में कुछ सामाजिकों को रसानुभूति की तीव्रता महसूस होती है और कुछ को नहीं और एक ही फिल्म को देखने वाला हर सामाजिक कई बार एक ही प्रकार की रसानुभूति क्यों नहीं कर पाता। इसका समाधान यह है कि, जैसे रस-निरूपण करने वाले शास्त्रकारों ने बताया है रसास्वादन दर्शक की सहृदयता पर निर्भर करती है। रसास्वादन के अधिकारी प्रेक्षक को निर्मल व सहृदय होना चाहिए। निर्मल चित्त वाले प्रेक्षक के चित्त में ही दर्शायी गयी भावनाएँ स्वच्छ रूप से प्रतिबिंबित हो पाती हैं जिसके फल स्वरूप ही आश्रय के साथ वह दर्शक तादात्मय स्थापित कर पाता है। यह तादात्मय की स्थिति ही साधारणीकृत रसास्वादन का पहला चरण है। रस की यह तीव्रता जितनी सामाजिक पर निर्भर करती है उतनी ही प्रस्तुति के माध्यम व तरीके पर भी निर्भर करती है। एक ही विचार को दो अलग-अलग तरीकों से अभिव्यक्त किया जाये तो अभिव्यक्ति का सौष्ठव्य जिसमें होगा रसास्वाद की तीव्रता भी उसी में अधिक होगी। यह अंतर अभिव्यक्ति की मौलिकता व सृजनात्मकता के कारण है। जीवन के हर क्षेत्र की तरह कलात्मक अभिव्यक्ति में भी मौलिकता ज़रूरी है। यह मौलिक सोच ही अज्ञान से लड़ने में सहायक होती है। कलाकार प्रकृति का यथावत चित्रण नहीं करता। वह उसे अपनी सृजनात्मकता से सँवार देता है। प्रकृति और कला में अंतर स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार श्री भगवत्शरण उपाध्याय ने काव्यात्मक ढ़ंग से कहा है कि-

"प्रकृति रात बनाती है, कलावंत दीप बनाता है।"[3]

मौलिकता नयेपन से अलग है तथा कला की दुनिया में कुछ भी एकदम से नया नहीं होता। इसे 'अज्ञेय' के शब्दों में इस तरह समझा जा सकता है-

"मौलिकता शायद इस चिरंतन आविष्कार का ही नाम है कि कला के क्षेत्र में कुछ भी नया नहीं होता। यहां तक कि जो नएपन का अभास देता है, वह नए के रूप में तब तक प्रतिष्ठित नहीं होता ,जब तक कि हम उसमें अथवा उसके द्वारा,जो कुछ उसमें पहले था, उसके नए के मूल्यांकन का अधार न पा लें

[3]. 'भारतीय सिने-सिद्धांत' - डॉ. अनुपम ओझा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ - 15 (उद्धृत)

और उससे एक अर्थवान संबंध न स्थापित कर लें। दूसरे शब्दों में जब तक कि हम उसमें वह न पहचान लें, जो नया नहीं है।"[4]

सिनेमा के संदर्भ में यह मौलिकता निर्देशक की नज़र में होती है। वैसे तो फिल्म अनेक कलाकारों की मिलीजुली मेहनत का नतीजा होती है मगर इसका मूल संयोजन निर्देशक ही अपने मन में निर्मित करता है जिसके आधार पर फिल्म बनती है। इसलिए एक अच्छे निर्देशक का एक कुशल प्रबंधक होना अच्छी फिल्म के निर्माण के लिए आवश्यक है। निर्देशक के बाद फिल्म को प्रभावी बनाने में अहम भूमिका अभिनेताओं की है। भरत मुनि ने भी नाटक के संदर्भ में रस-निष्पत्ति के लिए अभिनय को महत्वपूर्ण माध्यम माना है। सिनेमा में पात्रों की महत्वपूर्ण भूमिका को समझाते हुए 'इंदुप्रकाश कानूनगो' ने कहा है कि-

"लिखित कथा के चरित्र और फिल्मी चरित्र में अंतर है। लिखित चरित्र लेखक के उपादानों और पाठक की कल्पनाशक्ति का प्रतिफलित स्वप्न हैं किंतु फिल्म में वह प्रत्यक्ष अभिनेता हैं।"[5]

लिखित कथा में जिस तरह पाठक अपने मन में चरित्रों के विवरण तथा अपनी कल्पनाशीलता के अनुरूप बिंब निर्मित करता है उस प्रकार दृश्य कलाओं में उसे नहीं करना पड़ता। इसलिए फिल्म को 'बिंबो की श्रृंखला' कहा जा सकता है।

इस प्रकार फिल्मों में अभिव्यक्त सौंदर्य का आस्वादन करना किसी भी अच्छी फिल्म के दर्शक का उद्देश्य होता है। सौंदर्य के मूलभूत तत्व आनंद का शास्त्रीय विवेचन करने वाले रस-सिद्धांत को सिनेमा के सौंदर्यशास्त्र का आधार बनाना लाज़मी हो जाता है। इस आस्वादन में एक अनुपम व अलौकिक आनंद की अनुभूति होती है जो हमारे निजी सुख-दुःखों से उत्पन्न न होते हुए भी हमारा होता है। प्रचण्ड प्रवीर के शब्दों में-

"वैचारिक संपूर्णता और सृजनात्मकता के चमत्कार के लिए सिनेमा में सिनेमा के सौंदर्यशास्त्र का अवलोकन करना अनिवार्य हो जाता है।"[6]

इस लघु शोधकार्य में चर्चित 'शोले' फिल्म, जो कि एक उत्कृष्टतम कलाकृति है उसका, आनंद तत्व का शास्त्रीय निरूपण करने वाले रस-सिद्धांत के आधार पर आगे विवेचन किया जाएगा।

---

4. 'भारतीय सिने-सिद्धांत'- डॉ. अनुपम ओझा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ - 27 (उद्धृत)
5. 'सिनेमा की कला यात्रा'- इंदुप्रकाश कानूनगो, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ - 18
6. 'अभिनव सिनेमा'- प्रचण्ड प्रवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ - 228

5.2). ‘शोले’ फिल्म का संधि-वेवेचन:-

आचार्य भरत मुनि द्वारा रचित ’नाट्यशास्त्र’ में रूपकों के जो दस प्रकार बताये गये हैं- नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथि, प्रहसन, डिम तथा ईहामृग, उनमें उन्होंने नाट्य या नाटक की कथावस्तु को उसका शरीर मानकर उसे पांच संधियों में विभाजित किया है। कथावस्तु में फल-प्राप्ति के लिए नायक द्वारा किये जाने वाले प्रयासों से लेकर अंतिम फल-प्राप्ति तक की कार्यावस्थाएँ पांच बतायी गयी हैं। ये पांच कार्यावस्थाएँ हैं-

1. प्रारंभ या आरंभ
2. प्रयत्न
3. प्राप्ति-संभव या प्राप्त्याशा
4. नियतफल-प्राप्ति या नियताप्ति
5. फलयोग या फलप्राप्ति या फलागम

इन पांच कार्यावस्थाओं के लक्षण निम्नलिखित हैं-

आरंभ- प्रथम कार्यावस्था ‘आरंभ’ को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि लिखते हैं कि-

“औत्सुक्यमात्रबंधस्तु यद् बीजस्य निबध्यते।

महतः फलयोगस्य स स खल्वारम्भ इष्यते।।”[7]

अर्थात नाटक का वह भाग जो बीज से संबंधित होकर फल-प्राप्ति के लिए नायक को उत्साहित करें अथवा नायक में कथावस्तु के मुख्य फल की प्राप्ति के प्रति औत्सुक्य का प्रारंभ करें वह आरंभ कार्यावस्था कहलाती है।

प्रयत्न- नाट्य की कथावस्तु की द्वितीय कार्यावस्था- प्रयत्न को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि लिखते हैं कि-

“अपरयतः फलप्राप्ति व्यापारो सः फलं प्रति।

परश्चौस्त्सुक्यगमनं प्रयत्नः परिकीर्तितः।।”[8]

---

[7]. ‘नाट्यशास्त्र’, संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 51, श्लोक 8

[8]. ‘नाट्यशास्त्र’, संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 52, श्लोक 9

अर्थात नायक का फल-प्राप्ति के प्रति ध्यान न होते हुए भी फल-प्राप्ति के प्रति किये जाने वाले अत्यंत उत्सुकतापूर्ण प्रदर्शन या व्यापार को प्रयत्न कहते हैं।

प्राप्त्याशा- प्राप्त्याशा नामक तृतीय कार्यावस्था को भरत मुनि ने इस प्रकार परिभाषित किया है-

"ईषत् प्राप्तिर्यदा काचित् फलस्य परिकल्प्यते।

भावमात्रेण तं प्राहुर्विधिशः प्राप्तिसम्भबम्।।"[9]

अर्थात जब किसी विचार या भाव के द्वारा उद्दिष्ट फल की सिद्धी की आशा कभी पूर्ण होते हुए तथा कभी अपूर्ण होते हुए दिखने लगे तो वहां प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था माननी चाहिये।

नियताप्ति- चतुथ कार्यावस्था नियताप्ति या नियत फल-प्राप्ति है। इस अवस्था में इसके नामकरण के अनुरूप ऐसी परिस्थितियाँ बनती हैं कि उद्दिष्ट मुख्य फल की सिद्धि निश्चित हो जाती है। इसे आचार्य भरत मुनि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है-

"नियतान्तु फलप्राप्ति यदाभावेन पश्यति।

नियतां तां फलप्राप्ति सगुणाः परिचक्षते।।"[10]

अर्थात जब किसी विषय, अभीष्ट वस्तु या भाव की निश्चित फलप्राप्ति पूर्णरूप से दिखती हो तो उसे नियताप्ति या मियत फल-प्राप्ति कहा जाता है।

फलागम या फलयोग- नाटक की कथावस्तु की पांच कार्यावस्थाओं में से अंतिम कार्यावस्था है फलयोग या फलागम। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य भरत मुनि लिखते हैं कि-

"अभिप्रेतं समग्रश्चप्रतिरूपं क्रियाफलम्।

इतिवृत्ते भवेधस्मिन् फलयोगःप्रकीर्तितः।।"[11]

नाटकों की कथावस्तु में उसकी फलप्राप्ति की उपलब्धि संपन्न हो जाये तो उसे फलयोग या फलागम समझना चाहिये।

---

[9] . 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 52, श्लोक 10

[10] . 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 53, श्लोक 11

[11] . 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 53, श्लोक 12

ये पांच कार्यावस्थाएँ फल को उद्देश्यित कर किये जाने वाले प्रत्येक कार्य में अंतर्भूत होते हैं। आचार्य भरत मुनि का कहना है कि हर आधिकारिक कथावस्तु (किसी भी नाटक की कथा में दो प्रकार की कथावस्तुएँ होती हैं- आधिकारिक या मुख्य कथावस्तु व प्रासंगिक कथावस्तु, यह प्रासंगिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है- पतका कथावस्तु व प्रकरी कथावस्तु) में तदानुसार आरंभादि पांचों कार्यावस्थाएँ होनी चाहिये जिससे फल-प्राप्ति हो सके। कथावस्तु की आरंभादि पांच कार्यावस्थाओं का वर्णन करने के बाद आचार्य भरत मुनि कथावस्तु में अंतर्निहित पांच अर्थप्रकृतियों का भी उल्लेख करते हैं। ये पांच अर्थपप्रकृतियाँ हैं-

1. बीज
2. बिंदु
3. पताका
4. प्रकरी
5. कार्य

इन पांच अर्थप्रकृतियों के भरत-प्रणीत लक्षण निम्नलिखित हैं-

बीज- सर्वप्रथम अर्थप्रकृति बीज को स्पष्ट करते हुए भरत मुनि लिखते हैं कि-

"स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति।

फलावसानं यश्चैव बीजं तत् परिकीर्तितम्।।"[12]

अर्थात जो प्रारंभ में छोटे रूप में उपस्थित होकर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता हो तथा अंत में मुख्य फल-प्राप्ति की सिद्धि कराके समाप्त होता हो उसे बीज कहते हैं।

बिंदु- आचार्य भरत मुनि ने बिंदु नामक अर्थप्रकृति को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

"प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्।

यावत्समाप्तिर्बन्धस्य स विंदुःपरिकीर्तितः।।"[13]

---

[12] . 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 56, श्लोक 21

[13] . 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 56, श्लोक 22

अर्थात अवांतर विच्छेद होने पर भी जो रूपक में समाप्ति तक अविच्छिन्नता का कारण होकर स्थित रहता हो उसे बिंदु कहते हैं।

पताका- तृतीय अर्थप्रकृति पताका को आचार्य भरत मुनि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है-

"यद्वृत्तन्तु परार्थ स्यात् प्रधानस्योपकारकम्।

प्रधानवश्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिता।।"[14]

इससे पूर्व कथावस्तु के जो तीन प्रकार बताये गये हैं उनमें से एक प्रकार है पताका। आचार्य भरत मुनि लिखते हैं कि मुख्य या आधिकारिक कथा के मध्य में कोई घटना उसका उपकार या पुष्टि करने के लिए ही रखी जाये और उसकी भी मुख्य कथा की ही तरह व्यापक उपयोगिता रखी जाये तो उसे पताका कथा समझनी चाहिये।

प्रकरी- प्रकरी भी कथावस्तु के प्रकारों में से एक है। इसे परिभाषित करते हुए भरत मुनि लिखते हैं-

"फलं प्रकल्प्स्यते यस्याःपरार्थायैव केवलम्।

अनुबंधविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत्।।"[15]

अर्थात आधिकारिक कथावस्तु के लिए ही जिसका निवेश हो तथा जिसमें स्वार्थ निरपेक्षता हो उस विशेष वृत्त को प्रकरी कहा जाता है।

कार्य- कथावस्तु के पांच अर्थप्रकृतियों में से अंतिम अर्थप्रकृति कार्य है। इसका तात्पर्य है-

"यदाधिकारिकं वस्तुसम्यक्प्राज्ञै: प्रयुज्यते।

तदर्थे यस्समारम्भस्तत् कार्य परिकीर्तितम्।।"[16]

अर्थात, आधिकारिक कथावस्तु में लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समाविष्ट किये गये उद्योगों को कार्य कहा जाता है।

किसी भी कुशल नाट्य की मुख्य कथावस्तु में ये पांच अर्थप्रकृतियाँ तथा पांच कार्यावस्थाएँ उप्पस्थित होनी चाहिये। इन कार्यावस्थाओं व अर्थप्रकृतियों के मेल से ही संधियाँ बनती हैं। 'संधि'

---

[14] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 57, श्लोक 23

[15] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 57, श्लोक 24

[16] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 58, श्लोक 25

शब्द सम् + धि से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है मेल या जोड़। भरत मुनि ने नाट्य की कथावस्तु में पांच संधियों का उल्लेख किया है जो क्रमशः प्रत्येक कार्यावस्था तथा अर्थप्रकृति के संयोग से बनती हैं। ये पांच संधियाँ निम्नलिखित हैं-

1. मुख संधि- आरंभ कार्यावस्था + बीज अर्थप्रकृति
2. प्रतिमुख संधि- प्रयत्न कार्यावस्था + बिंदु अर्थप्रकृति
3. गर्भ संधि- प्राप्त्याशा कार्यावस्था + पताका अर्थप्रकृति
4. विमर्श संधि- नियताप्ति कार्यावस्था + प्रकरी अर्थप्रकृति
5. निर्वहण संधि- फलागम कार्यावस्था + कर्म अर्थप्रकृति

इन पांचों संधियों का विवरण भरत मुनि ने इस प्रकार दिया है-

मुख संधि-

"यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।

काव्यं शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम्।।"[17]

अर्थात नाटक में जहां अनेक प्रकार के रसों तथा भावों की अभिव्यक्ति के साथ बीज की अभिव्यक्ति हो तथा जो कथावस्तु के आरंभ नामक कार्यावस्था का संकेत करें वहां मुख संधि विद्यमान होती है।

प्रतिमुख संधि-

"बीजस्योद्धाटनं यत्तु दृष्टनष्टमिव कचित्।

मुखे न्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं भवेत्।।"[18]

अर्थात मुख संधि में स्थापित बीज का विकास या उद्भेद होता हो तथा ये बिंदु प्रयत्न नामक कार्यावस्था के संयोग में आ जाये तो उसे प्रतिमिख संधि कहते हैं।

गर्भ संधि-

"उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव च।

पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संशितः।।"[19]

---

[17] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 62, श्लोक 37

[18] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 62, श्लोक 38

अर्थात जहां पर बीज रूप में उत्पन्न तथा प्रतिमुख संधि में कुछ और प्रकाशित हुए फलप्राप्ति के उपमा का हास और अन्वेषण से युक्त समुद्भेद अर्थात प्रकाश होता है, उसे गर्भ संधि कहते हैं।

विमर्श संधि-

"गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो विलोमनकृतोपिवा।

क्रोधव्यसनजो वापि विमर्शः स इति स्मृतः।।"[20]

अर्थात जिसमें गर्भ संधि में विकसित बीज का और अधिक विस्तार से विकास प्रतीत हो और जो प्रलोभन- क्रोध तथा दुर्गति द्वारा और पुष्ट हो तो उसे विमर्श संधि समझना चाहिये। विमर्श संधि का प्रयोजन कार्य के चरमोत्कर्ष को प्रकट करना होता है।

निर्वहण संधि-

"समानयनमर्थानां मुखार्थानां स बीजिनाम् ।

फलोपसतानाश्च ज्ञेयं निर्वहणं तु तत् ।।"[21]

अर्थात मुखादि संधियों में परिलक्षित बीजादि मुख्य फल-प्राप्ति को संपन्न या संपादित कर दे तो उसे निर्वाहण संधि कहा जाता है।

आचार्य भरत मुनि नाट्य के शरीर-रूपी वृत्त के ये पांच अंग बताते हैं।

नाट्य की कथावस्तु में विद्यमान पांच कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों तथा संधियों के भरत-प्रणीत लक्षणों का विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात अब हम इन लक्षणों को प्रस्तुत लघु शोधकार्य का विषय - 'शोले' फिल्म की कथावस्तु पर लागु करके देखने की चेष्टा करेंगे। 'शोले' फिल्म की कथावस्तु के आलोक में नाट्य की इन पांच संधियों का विभाजन इस प्रकार दिखाया जा सकता है-

1. मुख संधि- मुख संधि नाट्य की आरंभ नामक कार्यावस्था तथा बीज नामक अर्थप्रकृति के मेल से निर्मित होती है। प्रस्तुत कथानक का आरंभ नायक ठाकुर का अपने कार्य को संपन्न करने हेतु व कथानक की मुख्य फलप्राप्ति हेतु जेलर को जय तथा वीरू को ढूंढकर उसे सौपने की आज्ञा देने, उस क्रम में उनसे जुड़ी पूर्व कथा का स्मरण करने तथा इन सबके माध्यम से

[19] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 63, श्लोक 39

[20] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 64, श्लोक 40

[21] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 64, श्लोक 41

लक्ष्य की प्राप्ति सिद्ध करने की दिशा में उत्साहित होने से होता है। यही इस कथावस्तु में मुख्य उद्देश्य के प्रति उद्योग बीज रूप में अंकुरित होता है। अतः आरंभ व बीज के इस संयोग के स्थान पर प्रस्तुत कथावस्तु में मुख संधि परिलक्षित होती है।

2. प्रतिमुख संधि- प्रतिमुख संधि बिंदु नामक अर्थप्रकृति तथा प्रयत्न नामक कार्यावस्था के योग से बनती है। 'शोले' के कथानक के संदर्भ में ठाकुर का जय तथा वीरू को मुख्य फलसिद्धि के लिए प्राप्त करने की चेष्टा करना उसका (नायक का) फल-प्राप्ति की दिशा में किया गया प्रयत्न या यत्न है। इस संदर्भ में एक तरफ जहां ठाकुर का यह कर्म लक्ष्य का प्रकाशन है वहीं दूसरी तरफ जय और वीरू की ठाकुर के घर की तिजोरी को लूट कर वहां से भाग जाने की योजना से लक्ष्य अलक्ष्यित होते हुए दिखती है। इस प्रकार प्रयत्न तथा बिंदु के योग से इस कथावस्तु में यहां पर प्रतिमुख संधि को देखा जा सकता है।
3. गर्भ संधि- यह तीसरी संधि प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था व पताका नामक अर्थप्रकृति के योग से जन्म लेती है। इस अवस्था में मुख्य फल की सिद्धि की आशा कभी पूर्ण हिते हुए दिखती है तो कभी अपूर्ण प्रतीत होती है। प्रस्तुत कथावस्तु की पताका कथाएँ वीरू तथा जय की अपनी-अपनी प्रणय कथाएँ हैं जिनमें वे दोनों अपनी कथा के पताका नायक हैं। इस दृष्टि से इन पताका नायकों (जय तथा वीरू) का गब्बर तथा उसके आदमियों का सामना कर उन्हें पराजित करना लक्ष्य की प्राप्ति की सूचनाएँ देता है मगर वीरू और जय की क्रमशः बसंती व राधा के साथ पताका कथाओं के प्रारंभ होने से लक्ष्य की अप्राप्ति के संकेत परिलक्षित होते हैं। इस योग की अवस्था को इस फिल्म की कथावस्तु की गर्भ संधि माननी चाहिये।
4. विमर्श संधि- यह संधि नियताप्ति नामक कार्यावस्था तथा प्रकरी नामक अर्थप्रकृति के मेल से निर्मित होती है। प्रस्तुत कथानक में प्रकरी कथा रामगढ़ के बुज़ुर्ग व्यक्ति ईमाम साहब उर्फ रहीम चाचा व उनके जवान बेटे अहमद की कथा है। इस कथा में नौकरी के लिए गाँव से शहर जाते हुए बेकसूर अहमद की गब्बर के द्वारा हत्या कर देना पूरे गाँव वालों में आक्रोश भर देता है तथा इसके पश्चात जय और वीरू इसकी प्रतिक्रिया में गब्बर के आदमियों को मारकर उसे और उकसाते हैं। इसके उपरांत गब्बर बसंती का अपहरण करवाता है जिसके कारण फलप्राप्ति के प्रति नायक व पताका नायकों का पुनः उत्साह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता है। इस स्थिति में नियताप्ति अर्थात नियत फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। इस प्रकार नियताप्ति व प्रकरी के योग से प्रस्तुत फिल्म में इस स्थान पर विमर्श संधि की उपस्थिति दर्ज की जा सकती है।

5. निर्वहण संधि- यह संधि नाट्य की कथावस्तु की अंतिम संधि है जो कर्म नामक अर्थप्रकृति व फलागम नामक कार्यावस्था के योग से निर्मित होती है। इससे पूर्व नियताप्ति में जहां फलप्राप्ति निश्चित हो जाती है, यह अवस्था उद्दिष्ट फल की प्राप्ति को दर्शाने वाली अवस्था है। 'शोले' फिल्म की कथावस्तु में अंत में जय तथा वीरू का बसंति को बचाने जाना, इस क्रम में जय की मृत्यु हो जाना, इससे आक्रोश में आकर वीरू का गब्बर के आदमियों को मारकर गब्बर को भी मार ड़ालने की चेष्टा करना, फिर वादे के मुताबिक वीरू की जगह ठाकुर का गब्बर को अपने नुकीले जूतों से अत्यंत घायल कर मारने की चेष्टा करना व पुलिस का आकर गब्बर को गिरफतार कर ले जाना कथा की मुख्य फल की प्राप्ति को दर्शाते हैं। इस प्रकार फल की सिद्धि हो जाने के बाद वीरू बसंती के साथ अपने गाँव वापस चला जाता है। दूसरी तरफ राधा जय के लिए खुले अपने मन के दरवाजों को पुनः बंद कर लेती है। इस प्रकार इन दोनों पताका कथाओं की भी यहां समाप्ति हो जाती है। अतः नियत फल की प्राप्ति के लिए होने वाले कर्म व उसके परिणामस्वरूप हुए फलागम के योग से इस जगह पर प्रस्तुत फिल्म की कथावस्तु में निर्वहण संधि को परिलक्षित किया जा सकता है।

आचार्य भरत मुनि कहते हैं नाटक के निर्देशक या निर्माता को अपने नाट्य में इन पांच संधियों का अवश्य समावेश करना चाहिये जिससे कथा सुव्यवस्थित प्रतीत हो। उनका कहना है कि नाटक व प्रकरण में ये पांचों संधियाँ समाविष्ट होनी चाहिये, रूपक के अन्य प्रकारों में इन संधियों की संख्या बदलती है। वे कहते हैं कि डिम व समवकार में चार संधियाँ (विमर्श संधि को छोड़कर अन्य सभी संधियाँ), प्रहसन, वीथि, अंक व भाण में दो संधियाँ (मुख संधि एवं निर्वहण संधि) तथा व्यायोग व ईहामृग में तीन संधियाँ होती हैं। इन पांच संधियों के अतिरिक्त भरत मुनि ने इक्कीस उपसंधियों व चौसठ संध्यांगों का भी लक्षण-सहित वर्णन अपने 'नाट्यशास्त्र' के 'संद्यांगनिरुपण' नामक इक्कीसवें अध्याय में प्रस्तुत किया है। आचार्य भरत मुनि का कहना है कि किसी भी नाटक की आधिकारिक कथावस्तु में ये पांच संधियाँ होती हैं व होनी चाहिये। अन्य पताका व प्रकरी कथावस्तुओं में इन संधियों का होना आवश्यक नहीं है क्योंकि उन प्रासंगिक कथाओं का वर्णन नाटककार मुख्य कथा के उत्कर्ष के लिए ही करता है। मगर कुछ पताकाएँ, जिनमें संधियाँ होती हैं उनको भरत मुनि ने 'अनुबंध पताका' की संज्ञा दी है। आचार्य भरत मुनि ने आगे इन पांच नाट्य-संधियों के उद्देश्यों व उपयोगों की भी चर्चा की है।

नाट्य-संधियों के उद्देश्य-

"इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः।

रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानांचैव गूहनम् ।।"[22]

"आश्चर्यवदभिख्यानं प्रकाशयानां प्रकाशनम् ।

अंगानां षड्विघं ह्योतदुक्तं शास्त्रे प्रयोजनम् ।।"[23]

अर्थात वे कह रहे हैं कि शास्त्रों में इन संधियों के छह उद्देश्य बताये गये हैं-

1. इष्टार्थ की अभिव्यक्ति या रचना
2. कथावस्तु के आवश्यक वृत्तांत का ग्रहण (कथा को इस प्रकार विस्तार देना जिससे दर्शकों की रुचि में व्यतिक्रम न आये)
3. प्रयोग को मनोरंजक व आकर्षक बनाकर भावों का संचार करना
4. जिस बात को छिपाना अभीष्ट हो उसको प्रकट न होने देना
5. आश्चर्यकारी घटनाओं का चमत्कार उत्पन्न करने हेतु कथन करना
6. प्रकट करने योग्य तत्वों की अभिव्यक्ति करना

नाट्यसंधियों के उपयोग-

"अंगहीनो नरो यद्वन्नैवारंभक्षमो भवेत् ।

अंगहीनं तथा काव्यं न प्रयोगक्षमं भवेत् ।।"[24]

अर्थात जैसे अवयवों से हीन पुरुष में युद्ध या कार्य आरंभ करने का सामर्थ्य नहीं होता वैसे ही अंगहीन नाट्यरचना भी प्रयोग में सफलता प्राप्त नहीं कर सकती।

उपर्युक्त उद्देश्य तथा उपयोग इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि नाट्य के संदर्भ में या सिनेमा के संदर्भ में इन संधियों की चर्चा करना आवश्यक क्यों है। उद्देश्यों में ये कहा गया है कि इन संधियों का होना इसलिए भी आवश्यक है ताकि दर्शकों की रुचि में व्याघात न आये तथा वह बनी रहे एवं नाटक सभी भावों का संचार अच्छी तरह से कर पाये। इस दृष्टि से यह संधियाँ नाटक या सिनेमा की रस-योजना को बहुत हद तक प्रभावित व संचालित करती हैं।

[22] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 67, श्लोक 51
[23] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 67, श्लोक 52
[24] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 67, श्लोक 53

नाट्य की कथावस्तु को रोचक बनाने के क्रम में भरत मुनि इसी अध्याय में 'पताकास्थान' का भी उल्लेख करते हैं व उसके लक्षण बताते हैं । वे लिखते हैं-

"यत्रार्थ चिंतितेन्यस्मिन् तल्लिंगोन्य प्रयुज्यते ।

आगंतुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ।।"[25]

अर्थात जब किसी प्रयोजन के विचार या घटना से रूपक के अन्य प्रयोजन की सूचना अप्रत्यक्ष रूप से दी जाये या अभिव्यति हो तो उसे पताकास्थान कहते हैं। प्रस्तुत 'शोले' फिल्म में जय तथा राधा की पताका कथा में जय के माउथ ऑर्गन बजाने की क्रिया द्वारा राधा के प्रति अपनी रति का प्रदर्शन करने पर राधा का उसके जवाब में बत्तियाँ बुझाना उनकी पताका कथा का दुःखांत होने के संकेत देती है जो कि आधिकारिक कथा को एक अत्यंत महत्वपूर्ण मोड़ देने का काम करती है।

इसके उपरांत भरत मुनि नाट्य के पांच अर्थोपक्षेपकों का वर्णन करते हैं। ये पांच अर्थोपक्षेपक निम्नलिखित हैं-

1. विषकंभक
2. प्रवेशक
3. चूलिका
4. अंकावतार
5. अंकमुख

विषकंभक- "मध्यमपुरुषनियोज्यो नाटकमुखसन्धिमात्रसश्चारः ।

विषकम्भकस्तु कार्यः पुरोहिनासात्यकंचुकिभि ।।"[26]

अर्थात नाटक की मुख संधि में मध्यम पात्रों से प्रयोज्य विषकंभक होता है, जिसे पुरोहित, मंत्री या कंचुकी के द्वारा संपन्न किया जाना चाहिये।

नाटक में किसी विषय का पूर्व कथन या आधुनिक सिनेमा की भाषा में जिसे फ्लाशबैक कहते हैं वह भरत मुनि द्वारा विषकंभक कहा गया है। प्रस्तुत फिल्म में दो विषकंभक हैं तथा दोनों नायक ठाकुर के द्वारा संपन्न किये जाते हैं। भरत मुनि के नियम के अनुसार यह किसी मध्यम पात्र द्वारा किया जाना

[25] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 59, श्लोक 29

[26] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 87, श्लोक 108

चाहिये मगर यहा ये कार्य नायक द्वारा संपन्न होता है। इसके अतिरिक्त भरत मुनि ने कहा कि विषकंभक मुख संधि में होना चाहिये मगर इस फिल्म में जो दो विषकंभक हैं उनमें एक तो मुख संधि में है मगर दूसरे का उल्लेख कथा के मध्य में होता है। मगर इनको दोषों के रूप में नहीं देखा जाना चाहिये क्यों कि देश, काल व परिस्थिति के अनुसार नियमों में संशोधन स्वाभाविक है। एक विषकंभक फिल्म के आरंभ में ठाकुर द्वारा जेलर को जय तथा वीरू का परिचय देते हुए बतायी गयी कथा है तथा दूसरा विषकंभक ठाकुर के द्वारा गब्बर के द्वारा अपने परिवारवालों का मारे जाने व अपने हाथ काटे जाने की कथा जय और वीरू को सुनाना है।

प्रवेशक- "अंकांतरानुसारी संक्षेपमार्थमधिकृत्य बिन्दूनाम्।

प्रकरणनाटकविषये प्रवेशको नाम विशेयः ॥"[27]

अर्थात प्रकरण और नाटक में स्थित रहने वाला प्रवेशक दो अंकों के बीच में रहता है और बिंदु के संक्षिप्तार्थ का प्रदर्शक होता है। 'शोले' फिल्म में ठाकुर के घर में काम करने वाले रामलाल काका द्वारा जय को राधा के विवाहपूर्व जीवन की कथा सुनाना प्रवेशक है।

चूलिका- "अंतर्यवनिकासंस्थैः सूतादिभिरनेकधा ।

अर्थोपक्षेपणं यत्तु क्रियते सा हि चूलिका॥"[28]

अर्थात नेपथ्य या यवनिका के पीछे से सूत आदि पात्रों के द्वारा किसी अर्थ या घटना की सूचना देना चूलिका कहलाती है। 'शोले' फिल्म में चूलिका का अभाव नज़र आता है। मगर मेरे विचार में यह कथा की मांग के अनुरूप होती है। इस फिल्म की कथावस्तु के लिए चूलिका की आवश्यकता नहीं थी, इस कारण इस फिल्म में चूलिका का अभाव देखने को मिलता है।

अंकावतार- "अंगांत एव चांको निपतति यस्मिन् प्रयोगमासाद्य।

बीजार्थयुक्तियुक्तो ज्ञेयो ह्यांकावतारोसौ॥"[29]

अर्थात दो अंकों के बीच या एक अंक में प्रविष्ट होने वाले बीज के कार्य प्रयोजन के उत्पादक को अंकावतार कहते हैं।

---

[27] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 87, श्लोक 111
[28] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 87, श्लोक 110
[29] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 88, श्लोक 113

सरल शब्दों में यह अगले अंक की सूचना देने वाली विधा है। 'शोले' में एक स्थान पर जहां जेलर ठाकुर से जय-वीरू के बारे में कहता है कि 'ऐसे लोगों का क्या ठिकाना' उसके ठीक बाद अगले दृश्य में जय-वीरू को किसी का वाहन चुराकर भागते हुए दिखाया जाता है। यह इस फिल्म में अंकावतार का उदाहरण है।

अंकमुख- "विश्लिष्टमुखमंकस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।

यदुपक्षिप्यते पूर्वे तदंकमुखमुव्यते।।"[30]

अर्थात जिसमें स्त्री या पुरुष पात्रों द्वारा अंक के प्रारंभ में ही होने वाली घटनाओं का संक्षेप में कथन कर दिया जाये उसे अंकमुख समझना चाहिये। 'शोले' फिल्म में अंकमुख नामक अर्थोपक्षेपक का अभाव है। मगर चूलिका के संदर्भ में जो कहा गया है उसी तरह यह अंकमुख की उपस्थिति भी कथा व प्रदर्शन की शैली के मांग के अनुरूप रहती है।

इस प्रकार यहां 'शोले' फिल्म में प्रस्तुत संधियों व कुछ अन्य नाट्यतत्वों को रेखांकित किया गया है। आचार्य भरत मुनि कहते हैं की एक आदर्श नाटक वह होता है जिसमें पताकास्थान, अर्थप्रकृतियाँ तथा आरंभादि पांचों कार्यावस्थाएँ हो, जिसमें पांचों संधियों, इक्कीस उपसंधियों व चौसठ संध्यांगों का औचित्यपूर्ण विनियोजन किया गया हो, जिसमें अनेक रस हो,जो गुण, लक्षणा तथा अलंकारों से सुशोभित हो, जिसका कथानक उदात्त हो तथा जिसमें अनेक मनोरंजक तत्व शामिल किये गये हो। इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा है कि नाटक को मंच पर खेलने की दृष्टि से सुविधाजनक होना चाहिये तथा उसका नामकरण सुकोमल शब्दों वाला होना चाहिये। इस फिल्म के अधिकांश तत्व (सभी न सही) नाट्यनियमों के अनुरूप परिलक्षित होते हैं जिसे फिल्म की सफलता का एक महत्वपूर्ण कारण माना जा सकता है।

[30] 'नाट्यशास्त्र', संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, इक्कीसवाँ अध्य्य पृष्ठ- 88, श्लोक 114

5,3), 'शोले' फिल्म का अंगीरस:-

'शोले' फिल्म की रस-योजना को भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में प्रतिपादित 'रस सिद्धांत' के आधार पर विश्लेषित करने से पहले हमें इसके लिए भरत मुनि द्वारा बताये गये नाट्य के कुछ लक्षणों को जानना आवाश्यक है। नाट्यशास्त्र में नाटक की कथावस्तु के विभिन्न अंगों को समझाते हुए उसे दो प्रकारों का बताया गया है-

"इतिव्रित्तंद्विधा चैव बुधस्तु परिकल्पयेत्।

आधिकारकमेकं स्यात्प्रासंगिकमथापरम्।।"[31]

अर्थात नाटक की कथावस्तु दो प्रकार की होती है- आधिकारिक व प्रासंगिक। भरत के 'नाट्यशास्त्र' को आधार बनाकर नाट्य के दस रूपकों के लक्षणों का वेवेचन करने वाले दशरूपककार आचार्य 'धनंजय' ने अपने 'दशरूपक' में इस आधिकारिक व प्रासंगिक इतिवृत्तों की परिभाषा देते हुए लिखा है-

"अधिकारः फलस्वामधिकारोच तत्प्रभुः ।

तन्निरवर्त्यमाभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।।"[32]

"प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्तो यस्य प्रसंगतः ।

सानुबंधं पताकाख्यं प्रकरी चप्रदेषभाक् ।।"[33]

धनंजय कहते हैं कि नाटक में फल के साथ स्वस्वामित्व की भावना का संबंध अधिकार कहलाता है तथा उस फल का स्वामि अधिकारी कहलाता है। इस प्रकार कथा के अधिकारी का इतिवृत्त आधिकारिक इतिवृत्त कहलाती है जो कथा का मुख्य आख्यान होती है। प्रासंगिक इतिवृत्त वह होती है जो आधिकारिक इतिवृत्त की सहायक होती है, उसके साथ चलते हुए उसके फल की सिद्धि में उपयुक्त होती है तथा प्रसंगानुकूल उसकी अपनी फल-सिद्धि भी हो जाती है। ये प्रासंगिक इतिवृत्त दो प्रकार की होती है- पताका व प्रकरी। जो प्रासंगिक कथा मुख्य कथा के साथ अंत तक चलती है उसे

---

31 'नाट्यशास्त्र'- बबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, इक्कीसवाँ अधाय, पृष्ठ- 49, श्लोक 2

32 'दशरूपक'- धनंजय, निर्णय सागर प्रेस, मुंबाई, प्रकाश-1, श्लोक-12 पृष्ठ- 3-4

33 'दशरूपक'- धनंजय, निर्णय सागर प्रेस, मुंबाई, प्रकाश-1, श्लोक-13 पृष्ठ- 3-4

पताका कहते हैं तथा जो एक प्रदेश विशेष तक सीमित रहती है मगर उसका भी कथा के मुख्य फल की प्राप्ति में अहम योगदान होता है उसे प्रकरी कहते हैं।

'शोले' फिल्म के संदर्भ में इन नियमों को लागू करने पर हम देखते हैं कि इस फिल्म में एक आधिकारिक कथा है और चार प्रासंगिक कथाएँ हैं जिनमें तीन प्रासंगिक कथाएँ पताका हैं तो एक प्रकरी। 'शोले' फिल्म की कहानी का अधिकारी वो है जो कहानी के फल-सिद्धि का भोक्ता हुआ है। इस प्रकार देखने पर फिल्म का मुख्य लक्ष्य है डाकु गब्बर सिंह को उसके कुकर्मों की सज़ा देना तथा गाँव के लोगों को उसके कहर से बचाना। फिल्म के अंत में गब्बर के पुलिस के गिरफ में आने से ठाकुर गब्बर से अपना प्रतिशोध लेने में सफल हो जाता है तथा अपने गाँव को गब्बर तथा उसके आदमियों के अत्याचार से मुक्त करने की मनोकामना को भी सिद्ध कर लेता है। इसलिए कथा के मुख्य फल का भोक्ता ठाकुर हो जाता है। इस दृष्टि से 'शोले' फिल्म का नायक या अधिकारी पात्र ठाकुर बलदेव सिंह हो जाता है। इस अधिकारी की कथा को आधिकारिक कथा कहते हैं। फिल्म में ठाकुर बलदेव सिंह तथा गब्बर सिंह के बीच की कथा आधिकारिक कथा है। इस फल की सिद्धि के लिए नायक ठाकुर बलदेव सिंह जय देव तथा वीरू नामक दो चोरों को लाता है जो आपस में बहुत गहरे मित्र होते हैं। इन दोनों का योगदान भी फलप्राप्ति में बहुत अधिक है मगर ये दोनों कथा के अधिकारी नहीं हैं। इन दोनों के मैत्री की कथा अंत तक चलती है तथा फलप्राप्ति के लिए अत्यंत सहायक होती है अतः वह प्रासंगिक कथा है तथा अंत तक चलने के कारण पताका प्रासंगिक कथा हो जाती है। इन दोनों की मैत्री की कथा के अलावा जय तथा वीरू की दो अलग-अलग कथाएँ भी चलती हैं जिनमें ये दोनों अपनी-अपनी कथा के नायक हैं तथा क्रमशः राधा तथा बसंती इन कथाओं की नायिकाएँ हैं। ये दोनों कथाएँ भी फिल्म के अंत तक मुख्य कथा के साथ चलती हैं तथा मुख्य फल की सिद्धि में सहायक भी होती हैं। अतः ये दोनों कथाएँ भी इस फिल्म की पतका कथाएँ हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त फिल्म में एक प्रकरी कथा है जो एक विशेष स्थान तक ही सीमित रह जाती है मगर उसका भी मुख्य फल-सिद्धि में योगदान अपूर्व होता है । यह कथा है गाँव के रहीम चाचा/ ईमाम सहब तथा उनके जवान बेटे अहमद की करुणा भरी कथा। कथा में अहमद की मृत्यु ठाकुर, जय, वीरू तथा पूरे गाँव वालों में गब्बर के प्रति आक्रोश बढ़ाती है। इस पूरे विश्लेषण का बिंदु रूप में सारांश इस प्रकार है-

1. 'शोले' फिल्म की आधिकारिक कथा - ठाकुर बलदेव सिंह तथा गब्बर सिंह की कथा
2. 'शोले' फिल्म की प्रासंगिक कथाएँ - चार

2.1. पताका कथाएँ - जय तथा वीरू की मैत्री की कथा, जय तथा राधा की प्रणय-कथा, वीरू तथा बसंती की प्रणय-कथा।

2.2. प्रकरी कथा - ईमाम साहब तथा अहमद की कथा।

फिल्म के अंगीरस को पहचानने के लिए फिल्म की कहानी की मुख्य कथावस्तु तथा उसके नायक को पहचानना आवश्यक होता है। फिल्म के अंगी रस को निश्चित करने से पहले दशरूपककार का इस संदर्भ में यह पद दृष्टव्य है-

"एको रसोंऽगीकर्तव्यो वीरःअ श्रृंगार एव वा।

अंगमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान् निर्वहणेऽद्भुतम् ।।"[34]

अर्थात नाटक की कथा में एक ही अंगीरस होगा जिसका या तो वीर रस या फिर श्रृंगार रस होना उत्तम समझा गया है। बाकी सभी रस अंगरूप में नाटक में उपस्थित होने चाहिए। कथा में उपस्थित सभी रसों में से अंगी रस को पहचानने के लिए विद्वानों द्वारा अध्ययन के बाद उसके कुछ लक्षणों का उल्लेक हुआ है। उसका एक प्रधान लक्षण तो बहुव्याप्ति है जो आनंदवर्धन के शब्दों में इस प्रकार है-

"प्रबंधेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरुसंधीयमानत्वेन स्थायी यो रसः।"[35]

अर्थात प्रबंधों में प्रथम प्रस्तुत और बार-बार अनुसंहित होने से जो रस स्थायी है वह उस प्रबंध का अंगीरस कहलाता है। इस प्रधान लक्षण के अतिरिक्त अंगीरस का एक अन्य लक्षण भी हैं जो कथा के अंगीरस को पहचानने में सहायक होती है। इस सहायक लक्षण का परिचय, डॉ़ नगेंद्र के शब्दों में, इस प्रकार है-

"एक सहायक लक्षण तो ये हो सकता है कि अंगीरस में मुख्य पात्र की, पुरुष अथवा नारी जो भी कथा का नयन करे उसकी, मूलवृत्ति का प्रतिफलन रहता है।"[36]

इस प्रकार अंगीरस कथा में स्थायी रूप से विद्यमान होता है तथा बाकी के रस व भाव कथा में संचारी रूप से आते जाते रहते हैं एवं अंगीरस के सहायक होते हैं। अतः कथा के अंगीरस को स्थायी रस तथा अन्य रसों को संचारी रस भी कहा जा सकता है। किसी भी कथा के अंगीरस को निम्नलिखित दो बिंदुओं के आधार पर निश्चित किया जा सकता है-

---

[34] 'दशरूपक'- धनंजय, निर्णय सागर प्रेस, मुंबाई, प्रकाश-3, श्लोक-33 पृष्ठ- 71

[35] र'स सिद्धानत'- डॉ़ नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ-285 (उद्धृत)

[36] 'रस सिद्धानत'- डॉ़ नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ-285

1. कथा में बहुव्याप्त रस उस कथा का अंगीरस होता है।
2. कथा का अंगीरस उस कथा के मुख्य पात्र की मूल प्रवृत्ति तथा उसके कारण अर्जित सिद्धि से पहचाना जा सकता है।

इन दो बिंदुओं को ध्यान में रखकर 'शोले' फिल्म की समीक्षा करने पर ये परिणाम निकलते हैं कि कथानायक ठाकुर बलदेव सिंह की मूल वृत्ति वीर रस है तथा यही रस पूरी फिल्म में बहुव्याप्त भी है। इसलिए 'शोले' फिल्म का अंगीरस वीर रस को कहा जाना चाहिए। फिल्म के शुरुआती दृश्यों में ही ठाकुर तथा जय और वीरू के बीच होने वाले संवाद में अपने पुलिस बनने के पीछे की वजह बताते हुए स्वयं ठाकुर यह बात कहता है कि 'शायद खतरों से खेलने का शौक है मुझे।'। ठाकुर की वीरता के दर्शन हमें फिल्म की पहली ऐक्शन सीक्वेंस (जो माल गाड़ी में होती है) से लेकर फिल्म के अंत में गब्बर को पुलिस के हवाले करने तक समय-समय पर होते रहते हैं। पूरी फिल्म में, परिवार के मारे जाने से, अपने हाथ काटे जाने से, जय और वीरू का उसके लिए गब्बर से लड़ने से मना कर देने से, अहमद की मृत्यु से गाँव वालों का घबराकर उसे गब्बर से पंगा न लेने की सलाह देने से, जय की मृत्यु से आदि किसी भी वजह से ठाकुर की वीरता का क्षय नहीं होता। वह अपना मनतव्य हासिल करने तक लगातार लड़ता रहता है।

इस प्रकार ठाकुर बलदेव सिंह इस फिल्म का नायक है मगर जय तथा वीरू की भूमिकाएँ भी फिल्म में नायक की भूमिका से कुछ कम प्रतीत नहीं होती। दोनों को अपनी-अपनी पताका कथाओं के नायक होने का दर्जा दिया जा सकता है। इस फिल्म की कथा में जो चार प्रासंगिक कथाएँ हैं उनमें श्रृंगार रस प्रधान है। जय तथा वीरू के मैत्री की कथा में कथा का प्रधान तत्व दोनों का स्नेह है एवं भरत मुनि के पास बाद के आचार्यों की तरह स्नेह रस का पृथक अस्तित्व न होने तथा स्नेह का स्थायी भाव भी रति होने के कारण उन दोनों की मैत्री को श्रृंगार रस के अंतर्गत रखा जा सकता है। जय और राधा तथा वीरू और बसंती की कथाओं का प्रधान रस नयक-नायिका का श्रृंगार है। ईमाम सहब तथा अहमद की कथा में एक पिता का पुत्र के प्रति वात्सल्य व पुत्र का पिता के प्रति भक्ति प्रधान हैं मगर भरत के पास बाद के आचार्यों की तरह वात्सल्य तथा भक्ति नामक पृथक रस न होने एवं वात्सल्य व भक्ति के मूल में रति भाव के ही होने के कारण इस कथा का भी प्रधान रस श्रृंगार रस समझना समीचीन प्रतीत होता है। इनमें तीन कथाओं की परिणति (प्रकरी, जय और वीरू की पताका, जय और राधा की पताका) करुण में होती है।

5.4). ‘शोले’ फिल्म के अंगभूत रस:-

आचार्य भरत मुनि के अनुसार नाट्य की कथा में बहुव्याप्त अथवा प्रधान रूप से विद्यमान रस एक होता है जो उस कथा का स्थायी या अंगी रस होता है तथा अन्य रस कथा के संचारी या अंगभूत रस होते हैं। सामान्य रूप से सोचने पर भी यह ज्ञात होता है कि किसी भी कथा में एक प्रधान रस का होना व उसके सहायक के रूप में अन्य रसों का होना सहज ही है। ये भरत मुनि द्वारा आविष्कृत कोई नया नियम नहीं है। ये कथा कहने का सर्वसाधारण लक्षण है जिसे भरत मुनि ने शास्त्रबद्ध किया है। वास्तव में लोक का अस्तित्व हमेशा से है तथा शास्त्र का निर्माण लोक से ही होता है। अंगीरस की यह धारणा इस बात का प्रमाण है। ‘शोले’ फिल्म के महत्व की चर्चा करते हुए उसमें सभी रसों के संयोजन को उसकी एक खासियत मानी गयी है । इन सभी रसों में एक प्रधान रस का होना ज़ाहिर है। पिछले उपाध्याय में हमने देखा कि इस फिल्म का अंगीरस कौनसा है एवं वर्णित सभी रसों में वीर रस को ही अंगी मानने के पीछे के कारणों की भी चर्चा की है। इस उपाध्याय में हम फिल्म में वर्णित अन्य सभी अंगभूत रसों का वर्णन-विश्लेषण करेंगे। पूरी फिल्म में हर जगह अभिव्यक्त भाव की रसरूप में परिणति आवश्यक नहीं है । कुछ जगहों पर यह स्थिति केवल भावों तक ही सीमित रहती है। अब हम क्रमशः फिल्म के एक-एक दृश्य का रसात्मक व भावात्मक विश्लेषण करेंगे।

फिल्म की शुरुआत रामगढ़ में जेलर के आगमन तथा ठाकुर व जेलर के संवाद से होती है। इस संवाद में ठाकुर जय तथा वीरू के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए अतीत में हुई एक घटना का वर्णन करता है। यहां तक फिल्म में परिचयात्मक चित्रण हुआ है। इस घटना से फिल्म में रस-निष्पत्ति की शुरुआत होती है। इस घटना में ठाकुर, जय और वीरू के संवाद से तथा माल गाड़ी पर डाकुओं के आक्रमण के पश्चात उनसे लड़ते हुए ठाकुर, जय और वीरू में युद्ध वीर रस का चित्रण हुआ है। इस दृश्य में जो वीर रस है उसके अवयव इस प्रकार हैं-

रस- वीर रस।

स्थायी भाव - उत्साह।

आश्रय - जय,वीरू, ठाकुर तथा दर्शक।

आलंबन विभाव - आक्रमणकारी डाकू (शत्रु)।

उद्दीपन विभाव - आक्रमणकारियों का पराक्रम तथा जय और वीरू का ठाकुर के सामने अपनी बहादुरी को साबित करने की इच्छा, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव - शौर्य का प्रदर्शन, अहंकार आदि।

संचारी भाव - अमर्ष, आवेग, रोमांच आदि।

इस युद्ध के अंत में जब जय देखता है कि ठाकुर को गोली लगी है तथा अगर उसे उसी वक्त अस्पताल नहीं ले जया गया तो उसकी मौत हो सकती है तब उसके मन में ठाकुर के प्रति करुण रस के स्थायी रूप शोक भाव उत्पन्न होता है और वह एक ज़िम्मेदार तथा सहृदय मनुष्य होने के नाते अपनी मानवीयता का परिचय देते हुए ठाकुर को अस्पताल ले जाता है, ये जानते हुए भी कि अगर ऐसा किया तो वो और वीरू गिरफतार हो सकते हैं। जय मात्र पुलिस के गिरफ में आने से बचने के लिए एक मनुष्य के प्राणों की आहुति देना सही नहीं समझता। इस दृश्य के ज़रिये निर्देशक दर्शकों को इस बात का एहसास दिलाना चाहते हैं जो फिल्म में ठाकुर के संवाद के रूप में इस प्रकार बताया गया है- 'वो बुरे हैं मगर इनसान हैं।' (यहां 'वो' से तात्पर्य है जय तथा वीरू)।

इसके बाद इस फिल्म का सबसे मशहूर गीत 'ये दोस्ती हम नहीं तोड़ेंगे' आता है जिसमें जय तथा वीरू के आपस की मैत्री को अत्यंत मनोरंजक ढ़ंग से चित्रित किया गया है। वास्तव में दोस्ती में भी एक-दूसरे के प्रति रति भाव उत्पन्न होता है जो कि भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित नाट्य के आठ रसों में से श्रृंगार रस का स्थायी भाव है। इस दृष्टि से श्रृंगार रस को मात्र नायक व नायिका के प्रेम प्रसंगों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। हालाँकि आचार्य भरत मुनि ने तो ऐसी किसी बात का उल्लेख अपने 'नाट्यशास्त्र' में नहीं किया है मगर 'नाट्यशास्त्र' के प्रसिद्ध टीकाकर अभिनव गुप्त के विभाजन के अनुसार फिल्म में जय तथा वीरू की मैत्री उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म श्रृंगार के स्नेह अर्थात समान व्यक्तियों की परस्पर रति के अंतर्गत आता है। इसलिए जय-वीरू की दोस्ती को श्रृंगार रस का ही एक रूप मानना अनुचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त इस गीत में कुछ हास्यपरक मनोरंजक दृश्यों का भी समावेश किया गया है।

इसके बाद फिल्म में 'सूरमा भोपाली' का परिचयात्मक दृश्य आता है जिसमें उसका परिचय तथा जय और वीरू से उसकी बात-चीत को दिखाया जाता है। इस बात-चीत में कहीं-कही परस्थ हास्य रस की उत्पत्ति देखी जा सकती है। इसके अवयव इस प्रकार हैं-

रस- हास्य रस

स्थायी भाव- हास

आश्रय- जय, वीरू तथा दर्शक।

आलंबन विभाव- सूरमा भोपाली।

उद्दीपन विभाव- सूरमा भोपाली के हास्यजनक कार्य, संवाद, वेशभूषा, हाव-भाव व चचेष्टाएँ।

अनुभाव- हँसना नाक तथा गले को फड़काना, नेत्रों का फुलाना या सिंकुड़ना, मुँह का लाल होना, बगली झांकना आदि।

संचारी भाव- रोमांच, अवहित्था, प्रबोध आदि।

इसके बाद जय और वीरू को जब सूरमा भोपाली जेल पहुंचा देता है तब जेल में सभी कैदियों के परेड का दृश्य दिखाया जाता है जिसमें जेलर का परिचय देते हुए जेलर की चेष्टाओं व उसके संवादों के ज़रिये हास्य रस की ज़बर्दस्त उत्पत्ति की गयी है। इस रस के अवयव इस प्रकार हैं-

रस- हास्य रस।

स्थायी- भाव- हास।

आश्रय- सभी कैदी, जेलर के सिपाही व दर्शक।

आलंबन विभाव- जेलर, हरिराम नाई (जेलर का जासूस)।

उद्दीपन विभाव- जेलर व उसके जासूस के संवाद व कार्य, हाव-भाव, वेशभूषा तथा चेष्टाएँ।

अनुभाव- हँसना, नाक तथा गले को फड़काना, नेत्रों का फुलाना या सिंकुड़ना, मुँह का लाल होना, बगली झांकना आदि।

संचारी भाव- रोमांच, अवहित्था, प्रबोध आदि।

इसी जेल के दृश्य में एक-दो विशिष्ट दृश्यों में जय तथा वीरू स्वयं आलंबनन विभाव बन जते हैं जैसे हरिराम नाई को गुमराह करने के दृश्य में एवं जेलर को धमकाकर जेल से भाग जाने के दृश्य में। इन दृश्यों में उत्पन्न हास्य रस के अवयव इस प्रकार हैं-

रस- हास्य रस।

स्थायी भाव- हास।

आश्रय- जय, वीरू सहित सभी कैदी तथा दर्शक।

आलंबन विभाव- हरिराम नाई, जेलर, जय तथा वीरू।

उद्दीपन विभाव- जय, वीरू, जेलर एवं हरिराम नाई के हाव-भाव, वेशभूषा तथा चेष्टाएँ, उनके कार्य व संवाद व नेपथ्य संगीत।

अनुभाव- हँसना, नाक तथा गले को फड़काना, नेत्रों का फुलाना या सिंकुड़ना, मुँह का लाल होना. बगली झांकना आदि।

संचारी भाव- रोमांच, अवहित्था, असूया, तंद्रा, निद्रा, प्रबोध आदि।

अब जेलर को धमकाकर जेल से निकले जय तथा वीरू सूरमा भोपाली के पास पैसों का अपना हिस्सा लेने पहुंचते हैं। यह दृश्य भी हास्य रस उत्पन्न करने वाला दृश्य है। इसके अवयव निम्नलिखित हैं-

रस- हास्य रस।

स्थायी भाव- हास।

आश्रय- जय, वीरू व दर्शक।

आलंबन विभाव- सूरमा भोपाली, जय तथा वीरू, उनके कार्य व संवाद (जय तथा वीरू यहां आत्महस्थ हास्य की कोटि में हास्य रस के कारण बनते हैं।) ।

उद्दीपन विभाव- सूरमा भोपाली की चेष्टाएँ, हाव-भाव, वेशभूषा तथा जय-वीरू के हाव-भाव आदि।

अनुभाव- हँसना, नाक तथा गले को फड़काना, नेत्रों का फुलाना या सिंकुड़ना, मुँह का लाल होना. बगली झांकना आदि।

संचारी भाव- रोमांच, अवहित्था, प्रबोध आदि।

इसके बाद जय और वीरू को ढूंढ़कर ठाकुर उनके पास ये सौदा लेकर जाता है कि वें दोनों गब्बर सिंह को ज़िंदा पकड़कर उसको सौपेंगे तो वह उन्हें बीस हज़ार रुपए देगा। जय और वीरू इसके लिए राज़ी हो जाते हैं तथा रामगढ़ के लिए निकल पड़ते हैं। वहां स्टेशन से ठाकुर के घर तक वे दोनों एक तांगा लेते हैं जिसकी चालक बसंती (हेमा मालिनी) होती है। बसंती इस फिल्म की एक पताका कथा (वीरू तथा बसंती की प्रेम कहानी) की नायिका है। तांगे के इस दृश्य में निर्देशक ने श्रृंगार तथा हास्य रस का

अद्भुत मेल किया है। इस दृश्य के इन रसों और उनके अवयवों को क्रमशः इस प्रकार समझा जा सकता है-

क. रस- श्रृंगार रस का पूर्वराग-

स्थायी भाव- रति।

आश्रय- वीरू तथा दर्शक।

आलंबन विभाव- बसंती।

उद्दीपन विभाव- बसंती की बातें व हाव-भाव।

अनुभाव- रोमांच, अपलक देखना, अंगों के मधुर तथा ललित परिचालन, मधुर शब्द बोलना आदि।

संचारी भाव- हर्ष, लज्जा, मद आदि।

अभिनव गुप्त द्वारा किये गये, पुरुषार्थों पर आधारित श्रृंगार रस के जो भेद हैं उनमे ये अर्थ श्रृंगार के अंतर्गत रखा जा सकता है और अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित पूर्वराग के अंतर्गत भी रखा जा सकता है।

यहां एक बता गमनार्थ है कि संचारी भाव स्थायी भाव के सागर में तरंगों की तरह आते-जाते हैं मगर इसका ये आशय कदापि नहीं है कि उनका स्वतंत्र अस्तित्व बिल्कुल नहीं होता। इस विषय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं-

> "इससे यह मतलब नहीं कि ये भाव (संचारी भाव) सदा प्रधान भावों द्वारा प्रवर्तित होकर अनुचर के रूप में ही आया करते हैं, स्वतंत्र रूप में आते ही नहिं। ये स्वतंत्र रूप में अपने निज के अनुभवों के सहित भी आते हैं पर पूर्ण रस की अवस्था को प्राप्त नहीं होते।"[37]

इस संदर्भ में यह तथ्य दृष्टव्य इसलिए है कि इस दृश्य में जहां वीरू बसंती की तरफ आकर्षित होता है वही दूसरी तरफ जय, जो कि उसी तांगे में होता है, बसंती के बहुत ज़्यादा बोलने से कष्ट व असहिष्णुता का अनुभव करता है। इस अवस्था में उसमें 'अमर्ष' नामक संचारी भाव का एक झलक दिखता है। इस भाव के चलते वह बसंती की बातों का जवाब कुछ व्यंग्य बातों से देता है जो दर्शकों में हास्य रस उत्पन करती हैं। बसंती तथा जय की इन बातों से उत्पन्न इस हास्य रस के अंग इस प्रकार हैं-

ख. रस- हास्य रस (व्यंग्य)-

[37] 'रस मीमांसा'- आचार्य रमचंद्र शुक्ल, पुस्तक प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृष्ठ- 119

स्थायी भाव- हास।

आश्रय- दर्शक।

आलंबन विभाव- जय, बसंती।

उद्दीपन विभाव- बसंती की बातें, जय के व्यंग्यात्मक बोल, उन पर बसंती एवं वीरू की प्रतिक्रियाएँ।

अनुभाव- हँसना, मुख खोलन, पेट फूलनाफूलना आदि।

संचारी भाव- रोमांच, हर्ष आदि।

यहां इन दोनों रसों में विद्यमान संचारी भाव भाव संधी की अवस्था में दर्शकों में उत्पन्न होते हैं और दर्शक द्वारा आस्वादित होने वाले रस का निश्चय वह स्थायी भाव करता है जो उसके चित्त में जागृत होकर रस रूप में परिणत हो।

इस तरह तांगे में ठाकुर के घर पहुंचने पर वहां ठाकुर की विधवा बहू राधा को सफेद साड़ी में देखकर जय के मन में रधा को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इधर जय के मन में जहां ये सब चल रहा होता है वहीं वीरू ठाकुर के घर की तिजोरी के पैसों को चुराकर भागने की लालसा जय के सामने प्रस्तुत करता है जिसके लिए जय भी राज़ी हो जाता है। अपने कमरे में कदम रखते ही ठाकुर के आदमी उन दोनों की बहादुरी और ताकत को परखने के लिए उन पर हमला कर देते हैं। इस हमले तथा जय और वीरू का उससे अपना बचाव करना वीर रस का दृश्य है जिसके अवयव हैं-

रस- वीर रस।

स्थायी भाव- उत्साह।

आश्रय- जय, वीरू तथा दर्शक।

आलंबन विभाव- आक्रमणकारी।

उद्दीपन विभाव- आक्रमणकारियों का पराक्रम व नेपथ्य संगीत।

अनुभाव - शौर्य का प्रदर्शन, अहंकार आदि।

संचारी भाव - अमर्ष, आवेग, रोमांच आदि।

इसके बाद अपने, पैसे चुराने की योजना के अनुरूप रात को अंधेरा होने के बाद जय और वीरू धीरे-धीरे अपने कमरे से निकलकर ठाकुर के कमरे में घुस जाते हैं तथा तिजोरी खोलने का प्रयास करने

लगते हैं। वह दोनों यह प्रयास कर ही रहे होते हैं कि दरवाज़े पर राधा आकर खड़ी हो जाति है और तिजोरी की चाबियाँ देते हुए उन्हें अपने बाबूजी (ठाकुर) को झूठी उम्मीदें न देने और पैसे लेकर वहां से चले जाने को कहती है। राधा के इन कटाक्ष वाली बातों से जय और वीरू को अपनी गलती का एहसास होता है और वें अपने इस कार्य को विराम दे देते हैं। इस परिस्थिति में जय के मन में ग्लानि नामक संचारी भाव उत्पन्न होता है जो राधा के प्रति उसके रति भाव को पुष्ट करता है तथा इसी ग्लानि के एहसास के कारण वह अगले दिन सुबह राधा को तिजोरी की चाबियाँ लौटा देता है और अपनी हरकत के लिए माफी भी मांगता है।

अगला दृश्य बसंती की बुआ का परिचयात्मक दृश्य है। यह परिचय मनोरंजनात्मक संवाद के ज़रिये कराया गया है।

इस संवाद के बाद बसंती अपनी बुआ की मांग को पूरा करने कच्चे आम लेने के लिए निकलती है और रास्ते में उसकी मुलाकात उस गाँव के बुज़ुर्ग आदमी रहीम चाचा से होती है और वह उनसे बात-चीत करने में लग जाती है। इस बात-चीत में वह अपना असली काम भूल जाती है जिसके लिए वह आई थी और बातों-बातों मे आम का ज़िक्र होने से पुनः उस काम के लिए निकलती है। इस पूरे दृश्य में बसंती की बातों और उसके भूलने की आदत के ज़रिये निर्देशक ने हास्य को पकड़ के रखा। ये हास्य रस के अंतर्गत तो नहीं रखा जा सकता पर फिल्म को मनोरंजनात्मक बनाने में सक्रीय भूमिका निभाता है। इसके बाद वन में आम तोड़ने वले दृश्य में एक तरफ बसंती और वीरू के बीच श्रृंगार रस चल रहा होता है वही जय की बातों और हरकतों के ज़रिये निर्देशक दर्शकों को लगातार हास्य रस में भिगो कर रखने में सफल होते हैं। इस दृश्य के रस व उनके अवयव इस प्रकार हैं-

क) रस- श्रृंगार रस का पूर्वराग।

स्थायी भाव- रति।

आश्रय- वीरू तथा दर्शक।

आलंबन विभाव- बसंती।

उद्दीपन विभाव- परिवेश, वीरू के अनुभाव(दर्शकों के लिए)।

अनुभाव- रोमांच, अपलक देखना, अंगों के मधुर तथा ललित परिचालन, मधुर शब्द बोलना, आलिंगन करना आदि।

संचारी भाव- हर्ष, लज्जा, मद आदि।

ख)रस- हास्य रस (व्यंग्य)।

आश्रय- दर्शक।

आलंबन विभाव- जय, वीरू और बसंती।

उद्दीपन विभाव- जय की बातें व क्रियाएँ तथा वीरू और बसंती की प्रतिक्रियाएँ।

अनुभाव- हँसना, मुख खोलन, पेत फूलना आदि।
संचारी भाव- रोमांच, हर्ष आदि।

वीरू और बसंती की कथा के साथ-साथ ही दूसरी तरफ निर्देशक जय तथा राधा की कथा को भी आगे बढ़ाते हैं। अगले दृश्य में जय और राधा के बीच का श्रृंगार रस दर्शाया गया है। यह भी श्रृंगार रस का पूर्वराग ही है। इसके अवयव निम्नलिखित हैं-

रस- श्रृंगार रस का।

स्थायी भाव- रति।

आश्रय- जय, राधा तथा दर्शक।

आलंबव विभाव- जय और राधा।

उद्दीपन विभाव- परिवेश, राधा का शर्माना, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- रोमांच, अपलक देखना, अंगों के मधुर तथा ललित परिचालन, माउथ ऑर्गन बजाना(जय का) आदि।

संचारी भाव- हर्ष, लज्जा, मद आदि।

इस दृश्य में जय का माउथ ऑर्गन बजाना जहां उसका राधा के प्रति उसके प्रेम का इज़हार करने का तरीका है वहीं राधा का बत्तियां बुझाना इस बात का संकेत है कि यह कहानी आगे नहीं बढ़ सकती क्योंकि वह एक विधवा स्त्री है। निर्देशक बडी़ ही सुंदरता से एक दृश्य के ज़रिये अपने दर्शकों को रधा और जय की कथा का दुःखात्मक अंत होने का संकेत पहले ही दे देते हैं।

इसके बाद के दृश्य से फिल्म की आधिकारिक कथा (गब्बर सिंह की कथा) की वास्तविक शुरुआत होती है जब सुंदर एवं शांत रामगढ़ में डाकू गब्बर सिंह के तीन अदमी हर बार की तरह इस

बार भी गाँव वालों से अवैध कर के रूप में अनाज लूटने आते हैं और गाँव वालों पर अपना धौंस जमाने लगते हैं। तब जय और वीरू गाँव को उनके शोषण से बचाने के लिए उनसे लड़कर उन्हें भगा देते हैं। फिल्म में यहीं ऐसा पहला मौका है जब जय और वीरू का गब्बर या उसके आदमियों से सामना होता है तथा उन्हें उनके पराक्रम को पूरे गाँव के सामने प्रदर्शित करने का मौका मिलता है जिससे गाँव वालों को (खासकर के ठाकुर को) इस बात का आश्वासन होता है कि ये दोनों इस गाँव को गब्बर के कहर से बचा सकते हैं। इस पूरे वारदात को वीर रस युक्त कहा जा सकता है क्योंकि इसमें एक तरफ जहां ठाकुर में गाँव वालों को गब्बर के खौफ से बचाने का उत्साह बराबर दिखायी देता है वहीं जय और वीरू में अपना काम बखूबी कर दिखाने का जोश भी झलकता है। इस घटना के वीर रस के अवयव इस प्रकार हैं-

रस- वीर रस।

स्थायी भाव- उत्साह।

आश्रय- जय, वीरू, ठाकुर व दर्शक।

आलंबन विभाव- गब्बर के अदमी, उनका आक्रमण व उनका पराक्रम।

उद्दीपन विभाव- गब्बर और उसके आदमियों द्वारा गाँव पर शोषण, ठाकुर का गब्बर से व्यक्तिगत दुश्मनी एवं जय और वीरू का सौंपे गये काम को पूरा करने का जज़बा, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव - शौर्य का प्रदर्शन, अहंकार आदि।

संचारी भाव - अमर्ष, आवेग, रोमांच आदि।

इस प्रकार गाँव वाले जय और वीरू के इस जीत पर खूब ख़ुशियाँ मनाते हैं। एक तरफ जहां इस जीत के बाद गाँव में खुशियों का माहौल छाया होता है वहीं गब्बर के अड्डे पर वातावरण क्रोध और खौफ का बन जाता है। अपने तीन आदमियों का मात्र दो आदमियों (जय और बीरू) के पराक्रम से ड़रकर व हारकर वापास लौट आना गब्बर को फूंटी आँख नहीं सुहाता। इसी दृश्य में फिल्म में दर्शकों का परिचय गब्बर से प्रत्यक्ष रूप में अत्यंत भय व घृणा उत्पन्न करने वाले परिदृश्य में कराया जाता है। अपनी इस हार से नाखुश गब्बर अपने उन तीन आदमियों (कालिया और उसके दो साथी) को बडी़ ही क्रूरता से अप्रत्याशित रूप से मार ड़ालता है जो पूरे वातावरण में व दर्शकों के मन में खौफ पैदा कर देता है। इस भयानक दृश्य के रसावयव निम्नलिखित हैं-

रस- भयानक रस ।

स्थायी भाव - भय।

आश्रय- कालिया और उसके दो साथी, गब्बर के पास काम करने वाले अन्य सभी अदमी एवं दर्शक।

आलंबन विभाव- गब्बर सिंह।

उद्दीपन विभाव- गब्बर का क्रोध करना, उसके हाव-भाव, उसकी चेष्टाएँ, परिदृश्य, घटनास्थल, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- रोमांच, वेपथु या कंप, स्वर भंग, अपलक देखते रहना, गुमसुम हो जाना, स्तब्धता आदि ।

संचारी भाव- आवेग, जड़ता, शंका, त्रास, चिंता आदि।

इस दृश्य के बाद फिल्म में रामगढ़ के वासियों को रंगों का त्योहार होली मनाते हुए एक गाने में दिखाया जता है जिसमें एक तरफ सारे गाँव वाले गब्बर के आदमियों पर अपनी विजय की खुशी में दुगने हर्षोल्लास से होली का जश्न मना रहे होते हैं तो दूसरी तरफ वीरू और बसंती का पूर्वराग (नाच-गाने के रूप में) चल रहा होता है। उधर राधा, जो एक विधवा स्त्री है और इस कारण रंगों के त्योहार से दूर है, को सफेद साड़ी में इस रंगों के जश्न से दूर खड़ा देख जय के मन में राधा की इस स्थिति पर विषाद का भाव (संचारी भाव) उत्पन्न होता है जो राधा के प्रति उसकी रति को और परिपुष्ट करने का काम करता है। इस गीत के अंत में गब्बर अपने अपमान का बदला लेने व गाँव वालों को सबक सिखाने (अपने से पंगा न लेले की चेतावनी देने) के उद्देश्य से गाँव पर हमला कर देता है। होली के हसते-खेलते जश्न के बीच अचानक हुए इस हमले से सभी बहुत भयभीत हो जाते हैं। मगर जय और वीरू बडी़ होशियारी व बुद्धि तत्परता से तुरंत चौकन्ने हो जाते हैं और आक्रमणकारियों को ईंट का जवाब पत्थर से देते हुए अपनी वीरता का अद्भुत प्रदर्शन करते हैं। किंतु कुछ ही समय में अपनी बंदूकें खाली पाकर जय और वीरू अन्य तरकीब सोच ही रहे होते हैं कि तभी वीरू की नज़र ठाकुर के सामने पड़ी हुई एक बंदूक पर पड़ती है। उसको देख वीरू ठाकुर से इशारे में बंदूक मांगता है मगर ठाकुर उसकी मांग को अंदेखा कर देता है। फिल्म में उस वक्त तक न तो वीरू को और न ही दर्शकों को ठाकुर की इस नज़रंदाज़ी की असली वजह पता होती है। इस कारण वीरू में ठाकुर के प्रति क्रोध का भाव जगता है और वह ठाकुर को ड़रपोक व बुज़िदल समझता है। इस बीच जय दूसरी तरफ से आगे बढ़ता ही है कि गब्बर के आदमी उसे अपनी गिरफ में कर लेते हैं। फिर वीरू भी गब्बर के धमकाने (बाहर न आने पर जय को गोली मारने की धमकी) पर गब्बर के सामने आकर निरस्त्र खड़ा हो जाता

है। तब गब्बर, ठाकुर व गाँव वालों को एक पल के लिए लगता है कि अब उनका खेल खतम हो चुका है, अब तो गब्बर जय और वीरू को ज़िंदा नहीं छोड़ेगा। मगर अपनी चतुराई से जय इस पूरी परिस्थिति को संभालते हुए बसंती और वीरू के सहयोग से हालत को अपने हित मे परिवर्तित करने में सफल हो जाता है। यह पूरा घटनाक्रम वीर रस से ओतप्रोत है। इस रस के अवयव निम्नलिखित हैं-

रस- वीर रस।

स्थायी भाव- उत्साह।

आश्रय- जय, वीरू एवं दर्शक।

आलंबन विभाव- जय व वीरू।

उद्दीपन विभाव- आक्रमणक्रियों का पराक्रम, ललकार, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- मुख लाल होना, भुजाएँ फड़काना, धैर्य, शौर्य, चातुर्य आदि।

संचारी भाव- आवेग, रोमांच, अमर्ष आदि।

अपनी इस बहादुरी और जीत से खुश व साथ ही ठाकुर की बेरूखी से रुष्ट वीरू और जय ठाकुर के सम्मुख अपनी रुष्टता को प्रकट करते हैं तथा इसी क्रोध में इसके आगे ठाकुर के लिए काम करने से मना भी कर देते हैं। उनकी इस बात पर अपने बंदूक न उठाने का कारण बताते हुए ठाकुर अपने अतीत की दुःखभरी कहानी उन्हें सुनाता है। यहा फिल्म पूर्वदृश्य विधान में चलती हैं जिसमें हमें ये दिखाया जाता है कि किस प्रकार एक बार, जब वह (ठाकुर) पुलिस अधिकारी था तब, उसने गब्बर को गिरफतार कर उसे बीस वर्ष कैद की सज़ा दिलवायी। इसके पश्चात अपने परिवार से मिलने के लिए वह खुशी-खुशी अपने गाँव के लिए रवाना हो गया। वही दूसरी तरफ अपने इस अपमान का बदला लेने के लिए तत्पर गब्बर जेल से भाग जाता है और जेल से निकलकर वह सीधा ठाकुर के गाँव पहुंच जाता है। वहां वह बडी़ ही बेरहमी से ठाकुर के अत्यंत खुशनुमा परिवार के सभी सदस्यो की (ठाकुर के दो बेटे, एक बेटी, एक बहू और उसके बड़े बेटे का छोटा सा बच्चा) हत्या कर देता है जो उस वक्त घर पर मौजूद होते हैं। इस वारदात में गब्बर का उस छोटे से बच्चे दीपक को मारने का दृश्य बाड़ा ही दिल दहला देने वाला होता है। इस दृश्य को निर्देशक ने बडी़ ही मार्मिक तरीके से चित्रित किया है जो दर्शकों को भी उस भय और तनाव का अनुभव बखूबी कराता है जिससे वह बच्चे का किरदार गुज़रता है। इस रसात्मक दृश्य के अवयव इस प्रकार हैं-

रस- भयानक रस

स्थायी भाव- भय

आश्रय- दीपक (ठाकुर का पोता), दर्शक।

आलंबन विभाव- गब्बर सिन्ह।

उद्दीपन विभाव- निर्जन स्थान, अपने माता-पिता, चाचा व फुफी की मृतावस्था, गब्बर के हाव-भाव, बंदूक, झूले की आवाज़ नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- स्वरभंग, रोमांच, मुह का उतर जाना, काँपना आदि।

संचारी भाव- आवेग, दैन्य, जड़ता, मोह, अपस्मार, त्रास, चिंता आदि।

इस भयानक हादसे के वक्त वहां (घर पर) अनुपस्थित राधा (ठाकुर की छोटी बहू) व रामलाल (उनके यहां काम करने वालें), जो उस समय मंदिर गये होते हैं, भाग्यवश बच जाते हैं मगर वापस लौटकर अपने परिवार वालों की ये हालत देख बहुत दुःखी हो जाते हैं। उधर अपने बच्चों व पोते से मिलने के लिए उत्सुक ठाकुर घर पहुंचता है और पहुंचते ही अपने घर के सामने भीड़ इकट्ठा देख हैरान हो जाता है। फिर उन सबके उदास चहरों से होते हुए आगे बढ़कर अपने सामने पाँच लाशों को पड़ा व सफेद साड़ी मे स्तब्ध बैठी हुई राधा एवं विलाप करते हुए रामलाल को देखता है तो दुःखी एवं क्रोधित हो जाता है। तब ठाकुर तुरंत समझ जाता है कि यह निस्संदेह रूप से गब्बर का ही किया-कराया होगा। ठाकुर इस विषादपूर्ण घटना के परिणामस्वरूप उग्ररूप धारण कर बिना कुछ सोचे समझे क्रोध के आक्रोश में गब्बर के अड्डे पर जा पहुंचता है (जो कि गब्बर असल में चाहता था)। गब्बर जिस मौके की तलाश में था उस मौके को पाकर अकेले, कमज़ोर एवं भावुक ठाकुर को चारों तरफ से घेर लेता है तथा उसे बंदी बनाने में सफल हो जाता है। इस तरह ठाकुर को बंदी बनाकर गब्बर (अमर्ष की भावना से) बडी़ बेरहमी से उसके दोनों हाथ काट देता है। इस पूरे घटनाक्रम में करुण रस, रौद्र रस. भयानक रस एवं वीभत्स रस का सहज समन्वय हुआ है। इन रसों का तथा उनके अवयवों का विवरण निम्न लिखित है-

रस- करुण रस (ठाकुर के परिवार वालों की मौत की खबर से।)

स्थायी भाव- शोक।

आश्रय- ठाकुर, गाँव वाले, जय और वीरू एवं दर्शक।

आलंबन विभाव- ठाकुर के परिवार वालों की मृत्यु।

उद्दीपन विभाव- मृत व्यक्तियों का दर्शन, राधा का विलाप व विधवा रूप, रामलाल का विलाप।

अनुभाव- मुह का उतर जाना. मुख का सूख जाना, चहरा लाल हो जाना आदि।

संचारी भाव- चिंता, विशद, त्रास, जड़ता, दैम्य आदि।

इसके परिणाम स्वरुप ठाकुर का गब्बर के प्रति अत्यंत क्रोधित हो जाना और पूर्ण आक्रोश के साथ गब्बर के अड्डे पर जाकर उसके चपेट में आ जने तक का घटनाक्रम रौद्र रस उत्पन्न करता है। इसके अवयव निम्नलिखित हैं-

रस- रौद्र रस।

स्थायी भाव- क्रोध।

आश्रय- ठाकुर तथा दर्शक।

आलंबन विभाव- गब्बर सिन्ह।

उद्दीपन विभाव- गब्बर का आक्रमण आदि।

अनुभाव- ओष्ठ चबाना, आवेग, गुस्से में गरजना, वेपथु आदि।

संचारी भाव- आवेग, गर्व, अमर्ष आदि।

बंदी बनाकर हाथ काटने वाला दृश्य दर्शकों व श्रोताओं के लिए जितना दिल दहलाने वाला होता है उतना ही भयानक ठाकुर के लिए होता है। इसके रसावयव निम्नलिखित हैं-

रस- भयानक रस।

स्थायी भाव- भय।

आश्रय- ठाकुर।

आलंबम विभाव- गब्बर सिन्ह।

उद्दीपन विभाव- गब्बर के हाथ में दो बड़े-बड़े तलवार, गब्बर के कठोर शब्द।

अनुभाव- वेपथु, स्वेद, रोमांच आदि।

संचारी भाव- आवेग, अपस्मार, त्रास, चिंता, शंका आदि।

यही भयानक दृश्य दर्शकों के मन में भय की जगह घृणा का भाव उत्पन्ना करने का काम करता है। इसलिए यह दृश्य भयानक रस के साथ-साथ वीभत्स रस को भी साथ लेकर चलता है जो आश्रय के हिसाब से बदलता है। इस वीभत्स रस के अवयव इस प्रकार हैं-

रस- वीभत्स रस।

स्थायी भाव- जुगुप्सा।

आश्रय- दर्शक एवं श्रोता।

आलंबन विभाव- गब्बर और ठाकुर के बीच का दृश्य।

उद्दीपन विभाव- गब्बर की क्रूरता और उसके संवाद, ठाकुर की लाचारता, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- स्तंभ, स्वेद, स्वरभंग, मुह फेर लेना रोमांच आदि।

संचारी भाव- आवेग, मोह, जड़ता, अपस्मार आदि।

ठाकुर के अतीत की इस दिःखभरी कहानी को सुनकर जय तथा वीरू का हृदय ठाकुर के लिए करुणाकलित हो जाता है तथा अब तक जो सिर्फ पैसों के लिए गब्बर का सामना करने के लिए तैयार हुए थे अब उस सौदे के पीछे ठाकुर का मक्सद व उसका कारण जानने के बाद ठाकुर के प्रति सहानुभुति जगने से इस लड़ाई को और आत्मसात कर लड़ने के सक्षम बन जाते हैं। इसी कारणवश जय और वीरू ठाकुर को वो सारे पैसे वापस कर देते हैं जो उन्हें गब्बर को पकड़ने के लिए ठाकुर ने दिये थे। वे दोनों बिना पैसे लिए काम करने के लिए राज़ी हो जाते हैं। इस सहानुभुति को जगाने वाले करुण रस के अवयव निम्नलिखित हैं-

रस- करुण रस।

स्थायी भाव- शोक।

आश्रय- जय, वीरू तथा दर्शक।

आलंबन विभाव- ठाकुर।

उद्दीपन विभाव- ठाकुर के जीवन की अतीत की कथा, बिना हाथों वाले इनसान (ठाकुर) का दर्शन नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- स्तंभ, स्वेद, रोमांच, मुख का वैवर्ण्य

संचारी भाव- चिंता, विशद, त्रास, जड़ता, दैन्य आदि।

इधर एक पुलिस अधिकारी होली के दिन हुए गब्बर के इस हमले के बारे में जानकारी पाने गाँव वालों से पूछताछ करने के उद्देश्य से गाँव में आता है। इसी सिलसिले में वह ठाकुर से बातचीत करता है व बातचीत के अंत में बड़े ही स्वाभाविक रूप से शुक्रिया कहकर ठाकुर से हाथ मिलाने के उद्देश्य से अपना हाथ आगे बढ़ाता है। मगर तुरंत अपनी भूल पर पछताकर अपना हाथ पीछे खींच लेता है। इस समय उस पुलिस अधिकारी के मन में एक क्षण के लिए ग्लानि नामक संचारी भाव उत्पन्न होता है। इसके ठीक बाद ठाकुर, जय और वीरू को ये खबर मिलती है कि हीरा (जो गब्बर सिन्ह को बंदूकें और गोलियां बेचने आता है) और उसके कुछ साथी गब्बर सिन्ह को माल देने आने वाले हैं। इस मौके का फयदा उठाते हुए जय और वीरू एक शाम उस अड्डे पर हमला कर देते हैं जहां गब्बर, हीरा और उनके अन्य साथी सामान का आदान प्रदान करने के लिए मिले थे और फिलहाल एक गीत (‘महबूबा ओ महबूबा’ गाना) और नृत्य देखने में मग्न हैं। इस हमले में वे दोनों आधे से ज़्यादा गोला-बारुद खतम करने में सफल होते हैं मगर गब्बर सिन्ह को पकड़ नहीं पाते। इसी दौरान जय स्वल्प रूप से घायल हो जाता है। अपने रति के पात्र जय को इस प्रकार घायल होकर घर लौटता देख राधा बहुत घबराजाती है और तुरंत उसे देखने के लिए दौड़कर आगे बढ़ती ही है कि दूसरे ही क्षण अपने ससुर जी (ठाकुर) को वहां पाकर संकोच के कारण रुक जाती है और अपना मन मारकर वापस अपने कमारे में चली जाती है। फिल्म में ये दृश्य इस बात की पुष्टि करने के लिए है कि कहीं न कहीं राधा के मन में भी जय के प्रति प्रेम की भावना उत्पन्न हो रही थी। राधा की इस चेष्टा को देख खुश जय इसके प्रतिक्रिया स्वरूप अपना माउथ ऑर्गन बजाने लगता है जिसके जवाब में राधा अपने कमरे का दरवाज़ा बंद कर लेती है (मन मारने के प्रतीक के रूप में)। इस दृश्य में निर्देशक ने बहुत ही सुंदर व कोमल ढ़ंग से श्रृंगार रस का चित्रण किया है जो संकोच के कारण दब जाती है। इसके रसावयव निम्नलिखित हैं-

रस- श्रृंगार रस।

स्थायी भाव- रति।

आश्रय- जय, राधा व दर्शक।

आलंबन विभाव- जय (राधा के लिए) और राधा(जय के लिए)।

उद्दीपन विभाव- घायल जय के लिए घबराहट, जय का माउथ ऑर्गन बजाना, राधा के हाव-भाव एवं चेष्टाएँ, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- रोमांच. जय और राधा की प्रतिक्रियायें आदि ।

संचारी भाव- हर्ष, चपलता, लज्जा आदि।

इसके बाद रहीम चाचा, अहमद, बसंती और डाक वाले के बीच के संवाद का दृश्य चलता है जो फिल्म की कहानी को आगे बढ़ाने के लिए हल्के मनोरंजन के साथ चित्रित किया गया है। फिर वहां से अपने घर के बाहर आने का असली उद्देश्य (मंदिर जाना) का स्मरण होते ही बसंती मंदीर के लिए निकल पड़ती है जिसके रस्ते में उसकी मुलाकात वीरू से हूती है और इस मुलाकात में वह वीरू को ये बताती है कि वह अच्छे पति की मन्नत्त मांगने मंदिर जा रही है। अपने प्रेम पात्र को इस उद्देश्य से मंदिर जाते हुए पाकर वीरू बसंती को पाने के लिए एक योजना बनाता है और भगवान की मूर्ती के पीछे खड़े होकर अपनी आवज़ बदलकर बसंती से इस प्रकार बात करता है जैसे कि स्वयं भगवान उससे बात कर रहे हों। इस तरह वह बसंती को ये यकीन दिलाने की कोशिश करता है कि भगवान भी चाहते हैं कि वो और वीरू एक हो जाये। वीरू की ये चेष्टा अभिनव गुप्त द्वारा प्रतिपादित श्रृंगार रस के एक भेद 'अर्थ श्रृंगार के अंतर्गत रखा जा सकता है। मगर अपने मित्र के स्वभाव से भली-भांती परिचित जय उसके पीछे जाता है और उसकी करतूत को समझकर उसका भांडा फोडने के लिए चुपचाप बसंती को भगवान शिव की मूर्ति के पीछे ले जाकर उस आवज़ की असलियत का खुलासा कर देता है। वीरू की इस चेष्टा को देख उससे रुष्ट होकर बसंती उसे चार बातें सुनाकर वहां से चली जाती है। वीरू के अर्थ श्रृंगार की इस क्रिया से दर्शकों में हास्य रस की उत्पत्ति होती है। शायद इसलिए भरत मुनि ने कहा था कि श्रृंगार रस (मुख्य रस) से हास्य रस (गौण रस) की उत्पत्ति होती है। इस दृश्य में चित्रित हास्य रस के अवयव इस प्रकार हैं-

रस- हास्य रस।

स्थायी भाव- हास।

आश्रय- दर्शक।

आलंबन विभाव- वीरू और बसंती।

उद्दीपन विभाव- वीरू की क्रियाएँ और बसंती की प्रतिक्रियाएँ ।

अनुभाव- हँसना, मुख खोलना, पेट फूलना आदि।

संचारी भाव- हर्ष, रोमांच आदि।

इसके बाद एक गीत (कोई हसीना) आता है जिसमें वीरू को बसंती को मनाते हुए दिखाया गया है। इस गीत के अंत में बसंती मान जाती है और वीरू के प्रस्ताव को स्वीकर कर लेती है। गीत के बाद जय और वीरू के बीच में एक संवाद चलता है जिसमें वीरू जय को अपना बसंती से शादि करने का फैसला बताता है और जय से ये कहता है कि वह जाकर बसंती की मौसी से उनकी शादी की बात करें। जय के इसके लिए मना कर देने पर वीरू उसे इमोशनल ब्लैकमैल कर उसे मना लेता है। फिर बसंती के घर पहुंचकर जय जब मौसी से मिलता है तब उन दोनों के बीच का संवाद दर्शकों में हास्य रस बखूबी उत्पन्न करने में कोई कसर नहीं छोड़ता। इसके रसावयव निम्नलिखित हैं-

रस- हास्य रस।

स्थायी भाव- हास।

आश्रय- दर्शक।

आलंबन विभाव- जय और बसंती की मौसी।

उद्दीपन विभाव- उन दोनों का संवाद, हाव-भाव, चेष्टाएँ आदि।

अनुभाव- हँसना, मुख खोलना, पेट फूलना आदि।

संचारी भाव- हर्ष, रोमांच आदि।

इस संवाद में जय के मुह से वीरू की ब्याजस्तुति सुनकर मौसी बसंती का रिश्ता वीरू से करने के लिए इनकार कर देती है। ये ज्ञात कर वीरू बसंती और उसकी मौसी को विवाह के लिए मनाने के लिए एक अंतिम योजना बनाता है। इस योजना के तहत वह गाँव की टंकी पर चढ़ जाता है और चढ़कर मौसी का शादी के लिए इनकार करने के कारण आत्महत्या करने की बात करता है। इस क्रम में ऊपर वीरू और नीचे जय, बसंती और गाँव वालों के बीच एक रसात्मक संवाद चलता है जो दर्शकों को हास्य रस के सागर में गोतियाँ लगवाता है। इस दृश्य के हास्य रस के अवयव निम्नलिखित हैं-

रस- हास्य रस।

स्थायी भाव- हास।

आश्रय- दर्शक।

आलंबन विभाव- वीरू, जय और गाँव वाले।

उद्दीपन विभाव- वीरू, जय तथा गाँव वालों के संवाद, हाव-भाव एवं चेष्टाएँ, वह टंकी जिस पर चढ़कर वीरू ये सारी नौटंकी करता है आदि।

अनुभाव- हँसना, मुख खोलना, पेट फूलना आदि।

संचारी भाव- हर्ष, रोमांच आदि।

वीरू के इस कृत्य से घबराकर मौसी बसंती और वीरू की शादी कराने के लिए मान जाती हैं। इसके तुरंत बाद निर्देशक दर्शकों के मन को हँसी- खुशी वाले माहौल से सीधा दुःख की ओर ले जाते हैं। उधर अहमद अपनी इच्छा के विरुद्ध मात्र अपने पिता ईमाम साहब के कहने पर उन्हें गाँव में अकेला छोड़कर नौकरी के लिए शहर जाने के लिए निकलता है। ईमाम साहब और अहमद का एक-दूसरे को अलविदा कहने का यह दृश्य बडी़ ही मार्मिक ढ़ंग से चित्रित किया गया है। अपने पिता को अलविदा कर शहर के लिए निकले अहमद को गाँव से थोड़ी दूर बाहर आते ही गब्बर सिन्ह के आदमी पकड़कर गब्बर सिन्ह के पास ले जाते हैं। पिछली बार जय और वीरू से मात खाकर पहले ही अत्यंत क्रोध और प्रतिक्रिया की भावना (अमर्ष) से ओतप्रोत गब्बर सिन्ह अपने दुश्मनों के गाँववासी को अपने अड्डे में पाकर उसको मारकर अपना गुस्सा ठंडा करता है और घोड़े पर अहमद के शव के साथ एक चिट्ठी में रामगढ़ वालों के लिए चेतावनी भिजवाता है। यहां निर्देशक गब्बर सिन्ह को अहमद को मारते हुए नहीं दिखाते अपितु मांस के टुकड़े, गब्बर सिन्ह की भावाभिव्यक्तियाँ, एक चींटी और अहमद के शव के माध्यम से प्रतीकात्मक रूप से दर्शकों को ये संप्रेषित कर देते हैं। यह दृश्य सहृदयों के हृदय में वीभत्स रस उत्पन्न करने का काम करता है। इसके रसावयव निम्नलिखित हैं-

रस- वीभत्स रस।

स्थायी भाव- जुगुप्सा।

आश्रय- रामगढ़वासी व दर्शक।

आलंबन विभाव- मांस के टुकड़े, गब्बर, अहमद का शव आदि।

उद्दीपन विभाव- नेपथ्य संगीत, गब्बर का अभिनय आदि।

अनुभाव- स्तंभ, स्वेद, मुह फेर लेना रोमांच आदि।

संचारी भाव- आवेग, मोह, जड़ता, अपस्मार आदि।

अहमद के शव को पाकर चकित ग्रामवासी शव के चारों ओर स्तंभ होकर खड़े रह जाते हैं। इस भीड़ को चीरते हुए ईमाम साहब बसंती को पुकारते हुए आते हैं और कुछ ही क्षणों में कोई अनहोनी भांपकर इस सन्नाटे की वजह जानने की इच्छा प्रकट करते हैं। आगे बढ़कर अहमद के शव को पाकर वें टूट जाते हैं। ये दृश्य फिल्म के अत्यंत करुणादायक दृश्यों में से एक है और खासकर ईमाम साहब का ये पूछना कि 'इतना सन्नाटा क्यों है भाई?' सहृदय सामाजिकों के रोंगटे खड़े कर देता है। इस हृदय विदारक दृश्य के रसावयव इस प्रकार हैं-

रस- करुण रस।

स्थायी भाव- शोक।

आश्रय- ईमाम साहब, जय, वीरू तथा ग्रामवासी एवं दर्शक।

आलंबन विभाव- अहमद का शव, ईमाम साहब आदि।

उद्दीपन विभाव- शव का हाल, ईमाम साहब का विलाप, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- विलाप करना, छाती पीटना, स्तंभ, स्वेद, रोमांच, मलिनता या मुख का वैवर्ण्य आदि।

संचारी भाव- मोह, चिंता, विशद, त्रास, जड़ता, दैन्य आदि।

चिठ्ठी में गब्बर सिन्ह गाँव वालों को उससे पंगा न लेते हुए चुप-चाप ठाकुर के दोनों आदमियों (जय और वीरू) को उसे सौंप देने को कहता है। ऐसा न करने पर अन्य ग्रामवासियों और उनके बच्चों को मार ड़ालने की धमकी भी देता है। अहमद का शव, ईमाम साहब की परिस्थिति व गब्बर के इस चिठ्ठी को देखकर सभी मासूम गाँव वालें भयभीत एवं ठाकुर जय और वीरू के प्रति क्रोधित हो जाते हैं और जय और वीरू को गब्बर को सौपने के लिए तैयार हो जाते हैं। जय और वीरू भी गाँव वालों की खुशी के लिए गब्बर सिन्ह के हवाले हो जाने के लिए तैयार हो जाते हैं । मगर ठाकुर अपने स्वभावानुरूप ग्रामवासियों में ओज भरने की कोशिश करता है और ये समझाने का प्रयास करता है कि उनका कायरता छोड़कर अपने हकों के लिए लड़ना आवश्यक है। इस स्थिति में ठाकुर की ये

प्रतिक्रिया अपेक्षित थी मगर ईमाम साहब की प्रतिक्रिया चौका देने वाली होती है। वह अपने उच्च तथा वीर मनोभावों का प्रदर्शन करते हुए ठाकुर की तरफदारी करते हैं। उनका ये कथन कि "मुझे दो-चार बेटे और क्यों नहीं दिये इस गाँव पर शहीद होने के लिए" अकेला ही उनकी वीरता को बखूबी दर्शाता है। इसके रसावयव निम्नलिखित हैं-

रस- वीर रस।

स्थायी भाव- उत्साह।

आश्रय- ग्रामवासी व दर्शक।

आलंबन विभाव- ठाकुर एवं ईमाम साहब।

उद्दीपन विभाव- ठाकुर एवं ईमाम साहब की बातें, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- मुख लाल होना, भुजाएँ फकाना, धैर्य, शौर्य, चातुर्य आदि।

संचारी भाव- आवेग, रोमांच, अमर्ष आदि।

फिर इसके प्रतीकार रूप में अगले दिन जय और वीरू बडी़ ही चतुरता से गब्बर सिन्ह के चार आदमियों को मार कर उनके शवों को चेतावनी वाली चिट्ठी के साथ गब्बर के पास भेजते हैं।

इसके बाद फिल्म की कहानी फिर से ओजपूर्ण घटनाओं से कोमलता की तरफ दर्शकों को मोड़ देती है। जय के मन में रामलाल के मुह से राधा के पिछले जीवन (शादी से पहले) का एक किस्सा सुनकर उसके प्रति दया का भाव जगता है जिससे उसकी राधा के प्रति रति और अधिक मज़बूत हो जाती है। रामलाल द्वारा सुनाए गये किस्से को सुनकर सहृदय सामाजिक भी राधा के प्रति दया का अनुभव समान रूप से करने लगते हैं। राधा को इस स्थिथि से निकालकर उसके साथ मिलकर एक सहज और खुशहाल ज़िंदगी जीने के सपने लेकर जय राधा से विवाह करने का प्रस्ताव आगे रखता है। इस प्रस्ताव से सहमत ठाकुर राधा के पिता को इसकी जानकारी देकर इसके लिए मनाने पहुंचते हैं और अपने उद्देश्य में सफल होकर वापस लौटते हैं। दूसरी तरफ राधा भी इस रिश्ते के तय होने से खुश होती है। इस प्रकार जय और वीरू दोनों की व्यक्तिगत ज़िंदगी में बहार की शुरुआत हो रही थी। किंतु वें लोग इस बात से अंजान थे कि इस प्रकार खुश व शांत रूप से आगे बढ़ती उनकी ज़िंदगी में एक बहुत बाड़ा तूफान आने वाला था जिसकी शुरुआत तालाब के तट पर वीरू का इंतज़ार कर रही

बसंती के अपहरण से हो चुकी थी। गब्बर के आदमियों का बसंती का पीछा करने वाला लगभग तीन मिनट का एक दृश्य भयानक रस का मार्मिक चित्रण करती है। इसके रसावयव निम्नलिखित हैं-

रस- भयानक रस

स्थायी भाव- भय

आश्रय- बसंती और दर्शक

आलंबन विभाव- अपहरणकर्ता (गब्बर सिन्ह के आदमी)

उद्दीपन विभाव- अपहरणकर्ताओं का बसंती का पीछा करना, भागने के रस्ते में आने वाली अड़चनें, नेपथ्य संगीत, आदि।

अनुभाव- ड़र के मारे भागना, बचने की कोशिश मे किये जाने वाले कृत्य।

संचारी भाव- रोमांच, वेपथू चपलता, आवेग आदि।

भागने की कोशिश में नाकाम बसंती अंत में गब्बर के अड्डे पर पहुंच ही जाती है और बसंती की इस लापताही का ज्ञात होते ही वीरू समझ जाता है कि वह गब्बर के अड्डे पर होगी और वह भी गब्बर के अड्डे पर बिना कुछ सोचे-समझे पहुंच जाता है। अपने दुश्मन को खुद आगे से अपने अड्डे में आया देख गब्बर उसे बंदी बना देता है और बसंती को अपने मनोरंजन के लिए नचवाता है। कडी़ धूप में, कांच के टुकड़ों पर तथा बंदूक की नौक पर (वीरू को मारने की धमकी देकर) बसंती को नचवाने वाले गब्बर की हैवानियत को निर्देशक ने इस ढ़ंग से चिर्तित किया कि सहृदय सामाजिक गब्बर सिन्ह के किरदार से बेहद नफरत करने लगे। वीरू का बसंती को ढूंढते हुए गब्बर के अड्डे पर जाने से लेकर वीरू की जान बचाने के लिए बसंती के नाचने (जब तक है जान गीत पर) तक का घटनाक्रम विप्रलंभ श्रृंगार रस से ओतप्रोत है। इक्सके रसावयवों का विवरण इस प्रकार है-

रस- श्रृंगार का विप्रलंभ रूप

स्थायी भाव- रति

आश्रय- बसंती, वीरू तथा दर्शक।

आलंबन विभाव- बसंती (वीरू के लिए), वीरू (बसंती के लिए) तथा दोनों (दर्शकों के लिए)।

उद्दीपन विभाव- बसंती का लापता होना, वीरू का बंदी होना, गब्बर और उसके आदमियों की क्रूरता, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- विलाप, रोमांच, आलिंगन, एक-दूसरे को बचाने का प्रयास करना आदि ।

संचारी भाव- आवेग, चपलता, मोह, त्रास आदि।

वीरू और बसंती का मुश्किल में फँसे होने का अंदाज़ा लगाकर जय अपने मित्र वीरू के विपरीत इस भावोद्वेगात्मक परिस्थिति में भी दिमाग से काम लेता है। बसंती और वीरू को बचाने के लिए एक व्यवस्थित योजना एवं बंदूकें व कार्तूस लेकर गब्बर के अड्डे पर पहुंचता है और उन दोनों को वहां से आज़ाद कराने में कामयाब भी हो जाता है।

इस प्रकार वहां से भागने में सफल जय, वीरू और बसंती कुछ दूर आकर दुश्मनों की गोलियों से बचने के लिए कुछ पत्थरों के पीछे छिप जाते हैं। इसी बीच जय को पीठ पर गोली भी लग जाती है और उसी समय दुर्भाग्यवश उनके बंदूकों में कर्तूस भी खतम होने के कगार पर आ जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में अपनी हालत जानते हुए भी जय वीरू से यह आग्रह करता है कि वह बसंती को लेकर गाँव चला जाये और उसे वहां छोड़कर कार्तूसों की चार-पांच पेटियाँ लेकर आये। मगर वीरू भी अपने मित्र को ऐसी परिस्थिति में अकेला छोड़कर जाने के लिए राज़ी नहीं होता। वीरू की इस ज़िद को देख जय टॉस करके वीरू से अपनी बात मनवा लेता है और वीरू अपने बंदूक और कार्तूस वहीं छोड़कर बसंती को लेकर निकल जाता है। मगर अफसोस वीरू के वापस लौटने से पहले ही पूरी कोशिश कर लगभग सभी दुश्मनों का खात्मा कर देने के बावजूद जय खुद को बचाने में असफल रह जाता है।

वापस पहुंचकर अपने दोस्त को आखरी साँसें लेता हुआ देख वीरू टूट जाता है और उसकी बातें सुनकर और भी खिन्न हो जाता है। जय के आखरी साँस लेने से ठीक पहले सभी गाँव वाले भी वहां पहुंच जाते है और तब राधा को देखकर वह कहता है- 'ये कहानी भी अधूरी रह गयी' और ये कहकर वह दम तोड़ देता है। जय की मृत्यु से पूरा गाँव विषादमयी हो जाता है। तभी प्रिय मित्र की मौत पर घोर विलाप करते वीरू की नज़र अचानक उस सिक्के पर पड़ती है जिससे जय हमेशा कोई भी फैसला लेने के लिए टॉस किया करता था और आज दुश्मनों के बीच रुकने वाले का निर्णय करने के लिए भी उन्होंने वही तरीका अपनाया था। उस सिक्के में उसे एक अजीब चीज़ रनज़र आती है और इसलिए वह उस सिक्के को पास से घुमा घुमाकर देखता है तो ये पाता है कि उस सिक्के के दोनों तरफ समान चहरा है जो हमेशा जय ही चुनता था। यह दृश्य इस पूरे फिल्म का अत्यंत पिघला देने वाला दृश्य है। अपने मित्र के इस प्राण त्याग को देख वीरू अत्यंत संतप्त हो जाता है।

इस पूरे घटनाक्रम में एक तरफ जहां गब्बर के अड्डे से वीरू और बसंती को बड़ी ही होशियारी से छुड़ाने से लेकर आखरी दम तक जय का हर कृत्य वीर रस से ओत-प्रोत था जो वीरता शारीरिक शौर्य से ऊपर उठकर चरित्र की दृढ़ता को भी दर्शाता है। वहीं जय की मृत्यु का दृश्य और टॉस करने की असलियत से वाकिफ होने का दृश्य सहृदय सामाजिकों से करुण रस के सागर में गहरी डुपकियाँ लगवाते हैं। इन दोनों रसों के रसावयव क्रमशः इस प्रकार हैं-

क) रस- वीर रस।

स्थायी भाव- उत्साह।

आश्रय- जय और दर्शक (जय द्वारा दुश्मनों का खातमा करने तक)।

आलंबन विभाव- वीरू, बसंती, गब्बर तथा अन्य आक्रमणकारी।

उद्दीपन विभाव- मित्रों का मुश्किल में होना, दुश्मनों का पराक्रम, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, चातुर्य आदि।

संचारी भाव- मति, धृति, आवेग, अमर्ष, रोमांच आदि।

ख)रस- करुण रस।

स्थायी भाव- शोक।

आश्रय- वीरू, राधा, ठाकुर, अन्य गाँव वाले तथा दर्शक।

आलंबन विभाव- मृत जय।

उद्दीपन विभाव- खून से लथपथ जय की बातें, जय के मृत शरीर का दर्शन, वीरू और राधा का विलाप, जय का त्याग, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- विलाप करना, छाती पीटना, स्तंभ, स्वेद, रोमांच, मलिनता या मुख का वैवर्ण्य आदि।

संचारी भाव- स्मृति, जड़ता, मोह, चिंता, विषाद, त्रास, दैन्य, निर्वेद आदि।

अपने प्रिय मित्र की मृत्यु के ज़िम्मेदार गब्बर के प्रति क्रोध से लाला वीरू अत्यंत आक्रोश के साथ गब्बर औस उसके हर एक आदमी को खतम कर ड़ालने के उद्देश्य से गब्बर के अड्डे पर जा पहुंचता

है और सबको मार देता है। अंत में गब्बर को भी जान से मारने ही वला होता है कि ठाकुर वहां आ जाता है और उसे अपने मृत दोस्त जय का वचन याद दिलाता है कि वह गब्बर को ठाकुर को ज़िंदा सौंपेगा। फिर ठाकुर गब्बर पर अपना पूरा भड़ास निकालता है और जब अंत में वह गब्बर को मारने ही वाला होता है तभी वहां पुलिस वाले पहुंच जाते हैं और ठाकुर को कानून के प्रति उसका फर्ज़ याद दिलाते हैं और गब्बर को गिरफतार करके ले जाते हैं। यहां वीरू और ठाकुर दोनों का गब्बर और उसके आदमियों के प्रति रौद्र रसात्मक रूप चित्रित किया गया है। इस रस के रसावयव निम्नलिखित हैं-

रस- रौद्र रस।

स्थायी भाव- क्रोध।

आश्रय- वीरू, ठाकुर एवं दर्शक।

आलंबन विभाव- गब्बर और उसके अदमी।

उद्दीपन विभाव- शत्रुओं का पराक्रम, जय, अहमद और ठाकुर के परिवार वालों की मृत्यु, गब्बर का ठाकुर के हाथ काटना, नेपथ्य संगीत आदि।

अनुभाव- रक्तनयन, स्वेद ओष्ठ चबाना, गरजना, ललकारना, वेपथु, शौर्य प्रदर्शन करना आदि।

संचारी भाव- अमर्ष, आवेग, गर्व, चपलता, उग्रता, उत्साह, आदि।

इससे फिल्म की कहानी का मूल उद्देश्य संपन्न हो जाता है। अंत में सभी मिलकर जय का अंतिम संस्कार करते हैं, ठाकुर वीरू को तसल्ली देकर विदा करता है और वीरू अपने लिए प्रतीक्षा करती बसंती के साथ अपने गाँव वापस लौट जाता है। इस प्रकार फिल्म दर्शकों के मन में अटूट छाप छोड़कर अपना समापन घोषित कर देती है।

इस बात से तो हम अज्ञात हैं कि निर्देशक रमेश सिप्पी ने यह फिल्म भरत मुनि के नाट्य व खासकर रस संबंधी नियमों को आधार बनाकर बनायी है या नहिं मगर इसकी रस-योजना तथा चित्रण-प्रणाली को देखकर ये अवश्य प्रतीत होता है कि उन्होंने इस ग्रंथ का अध्ययन किया होगा। जिस प्रकार भरत मुनि ने अपने ‘नाट्यशास्त्र’ के ‘रसाध्याय’ के अंत में शांत रस का उल्लेख करते हुए शांत को सबका मूल तथा अन्य सभी रसों को उसी से उत्पन्न और अंत में उसी में विलीन बताया है ठीक उसी के समकक्ष हम देख सकते हैं कि ‘शोले’ फिल्म में रामगढ़ गाँव शांति का प्रतीक है। गब्बर

के आक्रमणों से पहले यह गाँव शांत रस का निलय था बाद में शांती को भंग करने के कारण ही अन्य सभी रस उत्पन्न होते हैं और अंत में गब्बर की गिरफतारी के बाद फिर से यह गाँव शांत हो जाता है।

सभी स्वादों से युक्त भोजन एक संपूर्ण भोजन कहलाता है मगर इन सबका सही क्रम व मात्रा भी उतना ही आवश्यक होता है। इसी प्रकार किसी भी रूपक या फिल्म में सभी रसों का समावेश होना मात्र काफी नहीं होता। उन सभी रसों का सही क्रम व अनुपात में होना भी एक अच्छी फिल्म के लिए आवश्यक है। रसों के इसी व्यवस्थित प्रदर्शन शैली को रसयोजना कहते हैं। रसयोजना के संदर्भ में 'शोले' फिल्म अव्वल दर्जे की फिल्मों मे गिनी जा सकती है। इस फिल्म में निर्देशक ने दर्शकों को समय-समय पर हर प्रकार के रस का स्वाद तो चखाया ही है साथ ही इस बात का खयाल भी रखा कि कौनसा रस कथा को आगे बढ़ाने के लिए कहां और किस अनुपात में लाना उचित होगा। इसलिए यह फिल्म, जो कि वीर, करुण, हास्य, श्रृंगार, रौद्र, भयानक, विभत्स आदि सभी रसों का अद्भुत मिश्रण है, दर्शकों के दिलों पे राज करती है।

फिल्म में मुख्य कथा से संबंधित हर एक घटना को इस तरह चित्रित किया गया है कि वह सही समय पर घटित होकर कहानी के पत्रों को मुख्य फल-प्राप्ति की ओर क्रमशः आगे ले जाये। उदाहरण स्वरूप मुख्य फल प्राप्ति गब्बर को पकड़ाना है जिसके लिए ठाकुर अपने दो हाथों के विकल्प के रूप में दो आदमियों- जय और वीरू को इस काम के पैसे देकर उन्हें ये काम सौंपता है। मगर मात्र पैसों के लिए काम करने में और उसके पीछे की असली वजह जानकर काम करने में जो अंतर होता है वह फल प्राप्ति की आशा पर भी प्रभाव ड़ालता है। इसलिए जय और वीरू ठाकुर के अतीत की कहानी- गब्बर का उसके परिवार को खतम कर देना, छोटे बच्चे को भी न बक्षना, बड़ी ही बेरहमी से उसके हाथ काट देना, यह सब जानने के बाद और मन लगाकर अपना काम करने के लिए तैयार होते हैं। इस घटना से कार्यसिद्धि के प्रति निष्ठा की बढ़ी तीव्रता अहमद की मृत्यु से और गहरी हो जाती है और अंत में जय की मृत्यु से फलप्रप्ति पूर्ण रूप से निश्चित हो जाती है। इसी को संस्कृत आचार्यों ने नियताप्ति कार्यावस्था कहा है। तात्पर्य यह है कि वर्णित सभी रस व घटनाएँ अंगी रस को और अधिक परिपुष्ट व मुख्य फलप्राप्ति को और अधिक निश्चित करने का काम करते हैं।

5.5) 'शोले' फिल्म में अभिव्यक्त विरोधी रसः-

मन के भाव सुखात्मक व दुःखात्मक, दो प्रकार के होते हैं तथा एक समय में एक ही प्रकार के भावों की प्रधानता रहती है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यही बात रसों पर भी लागू होती है। इसी कारण दो विपरीत प्रकृति वाले स्थायी भावों की संधि के स्थान पर रस-विरोध उत्पन्न होता है। मगर इस विरोध के परिहार भी बताये गये हैं। 'शोले' में भी सभी रसों का समावेश होने के कारण कहीं-कही निर्देशक को विरोधी रसों को साथ लाना पड़ा। ऐसी परिस्थितियों में निर्देशक ने सही परिहारा के साथ उनकी संधि स्थापित की जिससे दर्शकों को इन भावों का विरोध कहीं पर नहीं खलता। अद्भुत रस को छोड़कर अन्य रसों का आचार्यों द्वारा बताये गये विरोध व उनके परिहारों के आधार पर 'शोले' में अभिव्यक्त कुछ विरोधी रसों का उल्लेख निम्नलिखित है-

1. रामगढ़ में होली के दिन जब सभी जश्न में मग्न होते हैं और जय तथा वीरू श्रृंगार रस के पूर्वराग के आवेश में होते हैं तभी गब्बर के आक्रमण से तुरंत सारा वातावरण भय से युक्त हो जाता है और जय तथा वीरू की प्रवृत्ति वीर रस वाली हो जाती है। वास्तव में श्रृंगार रस और वीर रस विरोधी रस हैं। गब्बर सिंह के अप्रत्याशित हमले से सब चौंक जाते हैं (विस्मय) और यह झटका दोनों रसों के बीच सेतु का काम करता है।
2. फिल्म के द्वितीय भाग के उस दृश्य में जहां बसंती तालाब के तट पर वीरू का इंतज़ार कर रही होती है तब वह अपने प्रिय वीरू के खयालों में डूबी श्रृंगार रस का आस्वाद कुछ हद तक कर रही होती है। मगर अचानक गब्बर के आदमियों का आगमन देख वह अत्यंत भयभीत हो जाती है और अपनी जान बचाने भागती है। श्रृंगार व भयानक रस एक दूसरे के विरोधी रस बताये गये हैं। मगर यहां इन दोनों को साथ लाने के लिए एक आश्चर्य चकित कर देने वाली घटना सेतु का काम करती है और वह है प्रत्याशित वीरू के आगमन की अपेक्षा अप्रत्याशित गब्बर के आदमियों का आगमन।

इस प्रकार फिल्म में जहां भी विरोधी रसों का एक साथ चित्रण किया गया है वहां उनका उचित रूप से संधि की गयी है।

5.6). ‘शोले’ फिल्म में रसदोष व रसाभास:-

भरत मुनि के रस सिद्धांत के आधार पर बाद के आचार्यों व काव्यशास्त्रीयों द्वारा सृष्टा व भोक्ता दोनों की दृष्टि से रस-दोषों का उल्लेख किया गया है। ‘शोले’ फिल्म के संदर्भ में उनका विवेचन यहां प्रस्तुत किया जायेगा।

कवि या निर्माता की दृष्टि से रसदोष-

1. स्वशब्दवाच्यता- इसका अर्थ है किसी रूपक में रस की व्यंजना न करते हुए किसी पात्र के द्वारा उसका कथन करवाना। इससे मात्र तथ्य-बोध होता है, रस की निष्पत्ति नहीं होती। रस की निष्पत्ति तो व्यंजना के द्वारा ही संभव है। इस फिल्म के संदर्भ में फिल्म की शुरुआत में जब ठाकुर जेलर से जय और वीरू की बहादुरी का ज़िक्र करता है तथा जब जय और वीरू माल गाड़ी में स्वयं अपनी बहादुरी का कथन करते हुए कहते हैं कि ‘अगर मौका मिले तो थानेदार साहब, देख लेना, हम दोनों पंद्रह-बीस पे तो भारी पड़ेंगे ही।’ तब दर्शकों को मात्र तथ्यबोध होता है, वहां उन्हें वीर रस की अनुभूति नहीं होती। मगर जब डाकुओं द्वारा माल गाड़ी पर आक्रमण होता है उस वक्त जय तथा वीरू जस तरह उनसे लड़कर उन्हें परास्त करते हैं उन कार्यों के दर्शन से दर्शकों में वीर रस की व्यंजना होती है। इसी प्रकार जब जय और वीरू का परिचय देते हुए ठाकुर का ये कहना कि ‘वो बदमाश हैं लेकिन बहादुर हैं, खतरनाक हैं, इसलिए कि लड़ना जानते हैं, बुरे हैं मगर इनसान हैं।’ दर्शकों को जय और वीरू के इनसानियत की वह प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं कराता जो उन दोनों का घायल ठाकुर को अस्पताल ले जाने का दृश्य देखकर होती है। इस फिल्म में कहीं भी भावों का मात्र अमूर्त शब्दों के द्वारा कथन नहीं किया गया है अपितु अभिनयों द्वारा उन्हें व्यंजित कर उन्हें मूर्त रूप प्रदान किया गया है।
2. विभावों और अनुभावों की कष्ट कल्पना- रस के कारण विभाव व कार्य अनुभाव होते हैं जो अभिव्यक्त रस की पुष्टि करते हैं। इसलिए इन विभावों व अनुभावों की स्पष्ट प्रतीति रस-निष्पत्ति के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसके अभाव में रसास्वाद में बधा उत्पन्न होती है। अतः इसे रसदोष कहा गया है। इस रसदोष के उपस्थित होने की संभावनाएँ लिखित साहित्य में अभिनीत नाटक या सिनेमा से अधिक हैं। प्रस्तुत फिल्म मे इस रसदोष को भी परिलक्षित नहीं किया जा सकता है।

3. विवक्षित रस के प्रतिकूल विभावादि का वर्णन- कथा में जिस रस की अभिव्यक्ति करने की चेष्टा हो रही हो उस रस के विपरीत विभावादि रसावयवों का वर्णन या चित्रण इस रसदोष को उत्पन्न करता है। इस रसदोष से भी यह फिल्म मुक्त नज़र आती है।
4. रस की बार-बार दीप्ति- अभिव्यक्त रस का पूर्ण परिपोष हो जाने के बावजूद निर्देशक द्वारा उसका बार-बार उदीपन करना इस रसदोष का लक्षण है। इससे दर्शकों में ऊब पैदा होती है जो रसास्वाद में व्याघात उत्पन्न करती है। 'शोले' में कहीं पर भी आवश्यकता से अधिक किसी भी रस को उदीप्त नहीं किया गया है।
5. अनवसर में विस्तार- प्रसंग से असंबद्ध या उसके विरुद्ध रस का वर्णन दर्शकों या सामाजिकों के रसास्वाद की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न करता है। उदाहरण स्वरूप अगर किसी की मृत्यु का प्रसंग हो व उस प्रसंग में शोक का वर्णन न कर प्रसंग के विरुद्ध किसी जोड़े का प्रणय-वर्णन किया जा रहा हो वहां इस रसदोष की उपस्थिति कही जा सकती है। 'शोले' फिल्म में ऐसा अनौचित्यपूर्ण चित्रण कहीं पर नहीं देखा जा सकता है।
6. अनवसर में रस का विच्छेद- किसी भाव या रस का चित्रण करते समय उसका पूर्ण परिपोष होने से पूर्व ही उसकी असमय समाप्ति कर देना 'अनवसर में रस का विच्छेद' नामक रसदोष कहलाता है। इससे दर्शकों में रस की निष्पत्ति पूर्ण रूप से नहीं हो पाती व इस कारण उनके रसास्वाद में बाधा उत्पन्न होती है। ऐसा कोई असंगत चित्रण भी इस फिल्म में नज़र नहीं आता। फिल्म में हर रस को उचित मात्रा में उद्दीप्त किया गया है जिससे कि दर्शकों की फिल्म में रुचि बनी रहे।
7. अंग की अत्यंत विस्तृति- यह रसदोष प्रसंग में वर्णित या अभिव्यक्त रस के अत्यंत विस्तृत चित्रण से उत्पन्न होता है। 'अनवसर में विस्तार' नामक रसदोष में प्रसंग से विरुद्ध रस के अनवसर विस्तार की बात की गयी थि जबकि यहां पर प्रसंगानुकूल अभिव्यक्त रस के विस्तृत चित्रण की बात की जा रही है। प्रसंगानुकूल रस भी अपने सही अनुपात से अधिक विस्तार पाकर दूषित हो जाती है व इससे सामाजिकों के रसास्वाद में बाधा उत्पन्न होती है। प्रस्तुत फिल्म के संदर्भ में गब्बर द्वारा अत्यंत बेरहमी से ठाकुर के हाथ काटे जाने की कथा सुनकर व देखकर दर्शकों में करुण रस की प्रसंगवश उत्पत्ति होती है तथा गब्बर के प्रति क्रोध की भावना को भी उद्दीप्त करती है। किंतु ठाकुर अगर बार-बार अपने हाथों के काटे जाने पर व्यथा प्रदर्शित कर रहा होता तो यह रसानुभूति भंग हो जाती।
8. अंगी की उपेक्षा- अभिनीत नाटक या फिल्म में जो मुख्य कथा, मुख्य पात्र या मुख्य रस है उसकी उपेक्षा कर कोई अन्य वर्णन या चित्रण करना इस रसदोष को उत्पन्न करता है। इससे

दर्शकों का मुख्य कथा या मुख्य रस से उचित जुड़ाव नहीं हो पाता है। उदाहरण स्वरूप 'शोले' फिल्म में शुरू में वीरू गब्बर को पकड़ने के उद्देश्य से रामगढ़ आता है मगर उस गाँव में बसंती से मिलता है जिसके प्यार में पड़ जाता है। मगर यहां श्रृंगार के प्रवेश से उसकी वीरता भंग नहीं होती श्रृंगार के प्रसंग वाली वह पताका कथा मुख्य कथा को सहयोग ही प्रदान करती है।

9. प्रकृति का विपर्यय- हर फिल्म में उसके पात्रों का व्यवहार उनके विशिष्ट चरित्र के अनुरूप ही होता है। निर्देशक को इस बात का ध्यान रखना चहिये कि उसके पात्रों का उनकी प्रकृति के विरुद्ध चित्रण न हो। अगर ऐसा होता है तो रस-निष्पत्ति में व्याघात उत्पन्न होता है।

    भरत मुनि ने नायकों के चार प्रकार बताये हैं- धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत व धीरप्रशांत। धैर्यवान उदात्त व अतिगंभीर चरित्र एवं स्थिर स्वभाव वाला नायक धीरोदात्त नायक कहलाता है। धीरललित नायक चंचल, चिंतामुक्त, श्रृंगारप्रेमी व भोगों में आसक्ति रखने वाला होता है। धीरोद्धत नायक शूर वीर होता है तथा अपने शौर्य के अहंकार से युक्त होता है। ऐसे नायकों का स्वभाव क्रोध व अस्थिरता से युक्त होता है तथा यें अपनी प्रशंसा खुद करने वाले होते हैं। उदार, दान व शांत गुणों से युक्त गंभीर नायक धीरप्रशांत नायक कहलाता है। इन लक्षणों के आधार पर 'शोले' में जो दो पताका नायक व एक मुख्य नायक हैं उनमें मुख्य नायक ठाकुर धीरोद्धत नायक तथा पताका नायकों में जय धीरोदात्त नायक व वीरू धीरललित नायक के अंतर्गत आते हैं। इसी चरित्र के अनुरूप उनका व्यवहार दर्शाया गया है। उदाहरण स्वरूप अगर ललित चरित्र वाले वीरू की जगह उदात्त चरित्र वाले जय को उस प्रकार चित्रित किया जाता जिस प्रकार बसंती की रति को प्राप्त करने के लिए वीरू को अनेक उपाय आज़माते दिखाया गया है तो वह दर्शकों को उचित व जय की प्रकृति के अनुरूप नहीं प्रतीत होता जिससे रस-निष्पत्ति बाधित हो जाती।

10. अनंग कथन- जो कथा का अंग न हो या जो प्रसंगानुकूल चर्चित विषय न हो उसका अनावश्यक रूप से कथन करना इस रसदोष को उत्पन्न करता है। विवक्षित रस से कोई भी संबंध न रखने वाले वर्णन रसभंग उत्पन्न करते हैं। जैसे 'शोले' में होली के दिन जब गब्बर का आक्रमण होता है तब जय और वीरू के शौर्य को न दिखाकर इन सबसे पूर्ण रूप से अनजान कुछ बालकों को अपने घर में बंद खेलते हुए दिखाया जाता तो वह दर्शकों के लिए असह्य हो जाता।

सहृदय सामाजिक की दृष्टि से रसदोष-

काव्यशास्त्रियों द्वारा वर्णित सहृदय सामाजिकों की दृष्टि से सात रसदोष इस फिल्म के संदर्भ में दर्शकों के अनुरूप बदलती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि इन रसदोषों में से एक विशेष दर्शक को अपनी परिस्थिति के अनुरूप जिन रसदोषों का अनुभव हो उन्हीं रसदोषों का शिकार अन्य कोई दर्शक भी हो। सहृदय की दृष्टी से ये सात रसदोष हैं-

अयोग्यता, स्वगत भाव से देश-काल का आवेश, परगत भाव से देश-काल का आवेश, निज सुख-दुःख का आवेश, उपायों की अक्षमता से रस-प्रतीति की स्फुटता का अभाव,अप्रधानता व संशययोग।

रसाभास-

आनंदवर्धन कहते हैं अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं है तथा रसाभास का भी यही कारण है। रसाभास भी एक प्रकार का रसदोष ही कहा जा सकता है। वर्णित विषय में किसी प्रकार के अनौचित्य के कारण जब सहृदयों को रस की अनुभूति न होकर मात्र उसका आभास होता है उसे रसाभास कहते हैं। अनुचित व्यवहार द्वारा प्रवृत्त स्थायी भाव रसाभास को उत्पन्न करता है। आचार्य अभिनव गुप्त ने इसे सीपी में रजत या चांदी के आभास के समान बताया है। 'शोले' में जब गब्बर अपने अड्डे पर कालिया तथा अन्य दो आदमियों को जय तथा वीरू के हाथों पराजित होकर लौटने पर मार ड़ालता है उस दृश्य में उनको मारने का गब्बर का पहला प्रयास जब व्यर्थ हो जाता है तब वह अप्रासंगिक रूप से हँसने लगता है तथा अपने आसपास सभी को हँसाकर अचानक उन तीनों पर गोलियाँ चला देता है। यहां पर भयानक रस से युक्त चित्रण के बीच में अप्रासंगिक हास्य हास्य का रसाभास कराती है। एक अन्य स्थान पर बसंती का अपहरण कर जब गब्बर बसंती के प्रति रति के शब्द बोलता है वहां पर भी अनौचित्य के कारण श्रृंगार का रसाभास होता है। यह रसाभास की स्थितियाँ उन संदर्भों में गब्बर की क्रूरता को अधिक पुष्ट कर उसके प्रति भय तथा क्रोध को और उद्दीप्त करने का ही काम करती हैं।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि 'शोले' फिल्म की दोषरहित रस-योजना की गयी है जिसने इस फिल्म को अत्यंत रोचक बनाया है। किसी भी फिल्म या रूपक की कथावस्तु का उत्तम व प्रभावशाली होना जितना आवश्यक है उससे अधिक आवश्यक है उसका सुव्यवस्थित प्रदर्शन व कुशल रस-योजना। 'शोले' फिल्म के संदर्भ में इस बात को इसी की कथावस्तु पर बनी 2007 की 'आग' फिल्म को देखकर समझा जा सकता है

******

उपसंहार

उपसंहार

हिंदी साहित्य जगत में हिंदी सिनेमा को लेकर जो उपेक्षा का भाव विद्यमान रहा वह अपने तमाम कारणों के बावजूद तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। भारत में सिनेमा के जन्म के पश्चात अनेक दशकों तक साहित्य से जुड़े लोगों में सिनेमा के प्रति उपेक्षा का ही नहीं घृणा का भाव भी रहा। भारतीय वांग्मय में 'सर्वेंद्रियानां नयनं प्रधानम्' कहकर मनुष्य की पांच ज्ञानेंद्रियों में से दृष्टि धर्मा आँख को सबसे प्रधान माना गया है। दूसरे स्थान पर श्रवण को रखा गया है। इस प्रकार इस संसार में ज्ञानार्जन के लिए जिन दो इंद्रियों के अनुभवों को सबसे प्रधान माना गया है उन दोनों अनुभवों को अपने दर्शकों तक पहुंचाने वला तथा इस कारण सर्वसाधारण जनता के बीच भी असीम पहुंच रखने वाला माध्यम अगर पूर्वकाल में नाटक था तो आज के आधुनिक समय में सिनेमा है। इसी असीम पहुंच के कारण सिनेमा के दर्शक वर्ग के मुकाबले साहित्य का पाठक वर्ग सीमित होता है। वह मात्र उन पढ़ें-लिखे लोगों तक सीमित होता है जो साहित्य को पढ़कर समझने तथा उसे सराहने की क्षमता रखते हों एवं साहित्य पढ़ने में रुचि रखते हों। इसी कारणवश सिनेमा साहित्य से अधिक लोकप्रिय है।

वास्तव में साहित्य की दुनिया में सिनेमा को उपेक्षित दृष्टि से देखने का कारण सिनेमा की इसी लोकप्रियता का सिने-व्यवसाय से जुड़े लोगों का गलत दिशा में उपयोग करना है। अपनी इस लोकप्रियता व व्यापक पहुंच को आधार बनाकर सिनेमा अपने सामाजिकों को एक ऐसी कलात्मक, नैतिक व अर्थवान भूमि पर ले जा सकने की क्षमता रखता है जो साहित्य की पहुंच से भी परे है। मगर जब से सिनेमा कहानी कहने की दृश्यात्मक कला विधा से मात्र जनता मे अपनी लोकप्रियता का फायदा उठाते हुए पैसे बनाने का एक व्यावसायिक माध्यम बन गया है तब से कलाजगत में इसका स्थान भी नगण्य होता गया। घोर व्यावसायिकता के दलदल में फँसकर सिनेमा अपने दर्शकों की कुंठाओं तथा वासनाओं को उत्तेजित कर उससे अपना व्यावसायिक स्वार्थ सिद्ध करता आया है। लोकप्रिय सिनेमा के इसी स्वरूप के कारण सिनेमा को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। मगर मुख्यधारा की व्यवसाय-केंद्रित फिल्मों के ही समकक्ष कला फिल्में भी बनती आयी हैं जो नैतिक व कलात्मक रूप से सर्वोत्तम साबित हुई हैं। भले ही इसकी लोकप्रियता कम थी मगर सिनेमा की इस धारा ने भी सिनेमा के विकास में अविस्मरणीय योगदान दिया है। यदी सिनेमा की घोर व्यावसायिकता, अश्लीलता, हल्का मनोरंजन आदि गंभीर सिनेमा-लेखन के अभाव के कारणों के रूप में गिनाये जाते हैं तो सिनेमा की इस पावन धारा की उपेक्षा के क्या कारण बताये जा सकते हैं। देखा जाये तो साहित्य में भी एक ऐसी धारा है जिसमें हल्के मनोरंजन व जनता में लोकप्रियता को लक्ष्य बनाकर साहित्य-

रचना की जाती है। साहित्य की इस धारा को पॉपुलर लिट्रेचर या लोकप्रिय साहित्य कहकर साहित्यि-जगत से दूर रखा गया। इस दृष्टि से कोरा मनोरंजन तथा घोर व्यवसाय को लक्ष्य बनाकर बनायी गयी फिल्मों को दूर रखकर कलात्मक व नैतिक मूल्यों के साथ बनी फिल्मों पर गंभीरता पूर्वक चर्चा एवं विचार-विमर्श होने की संभावनाएँ हमेशा से खुली थी।

प्रस्तुत लघु शोधकार्य का उद्देश्य साहित्य-जगत में सिनेमा को उचित पहचान दिलाना नहीं है। सिनेमा एक ऐसी विधा है जो स्वायत्त व अपने में ही समृद्ध है। यह सिनेमा और साहित्य के बीच के फासले को मिटाने की तरफ एक छोटा सा कदम मात्र है। सिनेमा और साहित्य के एक साथ आने से एक तरफ जहां सिनेमा को एक अर्थवत्ता मिलती है वहीं दूसरी तरफ साहित्य की पहुंच सिनेमा के माध्यम से समाज में बढ़ती है। आज हमारा सौभाग्य है कि ये फासला धीरे-धीरे मिटता दिख रहा है। इस शोधप्रबंध में इस विषय पर चर्चा भी हो चुकी है। विश्वविद्यालयों में सिनेमा को एक अलग पाठ्यक्रम के रूप में स्थान दिया जाना, विद्यालयीन स्तर पर 'तीसरी कसम' जैसे सिनेमा संबंधी पाठों को पढ़ाया जाना आदि इस बात के प्रमाण हैं। साहित्य और सिनेमा के बीच का ये फासला मिटाने की दिशा में साहित्य के सिनेमायी रूपांतरणों पर जिस स्तर पर चर्चा होती दिखती है उस स्तर पर सिनेमा के साहित्यिक पक्षों पर नहीं दिखती, जैसे सिनेमा की कथाएँ, उसके गीत, उसकी कथाओं व गीतों की रचना-शैली व प्रस्तुतीकरण में साहित्यिक लक्षण (छंद, अलंकार आदि), उसकी रसवत्ता, आदि। प्रस्तुत शोधकार्य को इसी दिशा में हिंदी सिनेमा के कलात्मक व साहित्यिक पक्ष का मूल्यांकन भारतीय काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र के सबसे प्राचीन, आचार्य भरत मुनि द्वारा रचित ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' के सर्वाधिक चर्चित 'रसाध्याय' को आधार बनाकर करने की तरफ लक्ष्यित किया गया है। लघु शोधकार्य की समय-सीमाओं के कारण मूल्यांकन के इस कार्य को हिंदी सिनेमा की सर्वोत्कृष्ट कलाकृतियों में से एक- 1975 की, निर्देशक रमेश सिप्पी द्वारा बनायी गयी 'शोले' फिल्म तक ही सीमित रखा गया है।

जैसा कि भूमिका में बताया गया है अपने इस लघु शोधप्रबंध में मैंने 'शोले' फिल्म में उपस्थित रस एवं उनके अवयव क्या हैं, उन रसों की प्रस्तुती किस अनुपात में की गयी है, फिल्म के अंगी व अंगभूत रस कौनसे हैं, कथा के मुख्य फल की प्राप्ति में उन रसों का सहयोग क्या है तथा उनका सुव्यवस्थित प्रदर्शन किस प्रकार किया गया है, इन सवालों पर भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धांत के आधार पर विचार करके उन पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। इसके लिए क्रमशः आचार्य भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र', रस-सिद्धांत, हिंदी सिनेमा तथा 'शोले' फिल्म का परिचय प्रस्तुत करके उसके उपरांत उपर्युक्त सभी सवालों पर अनुप्रयुक्त शोध-प्रविधि की सहायता से विचार किया है। इस क्रम में

सर्वप्रथम आचार्य भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित नाट्य में अंगीरस की परिकल्पना तथा बाद के आचार्यों व विद्वानों द्वारा नाट्य में उसके अंगीरस को पहचानने के लिए बताये गये सहायक लक्षणों के आधार पर 'शोले' फिल्म के कथानक का विश्लेषण कर वीर रस को उसका अंगीरस स्थापित किया है।

इसके पश्चात फिल्म में भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित नाट्य में उपस्थित आठ रस- श्रृंगार रस, हास्य रस, रौद्र रस, करुण रस, वीर रस, अद्भुत रस, वीभत्स रस तथा भयानक रस, इन सभी रसों में से अंगीरस वीर रस के अतिरिक्त बाकी सात रसों की उपस्थिति पर विचार किया गया है। यह कार्य फिल्म के सभी दृश्यों का क्रमशः रसात्मक विश्लेषण करके किया गया है। फिल्म के पहले दृश्य से लेकर आखरी दृश्य तक जहा-जहा फिल्म अपने दर्शकों को रसानुभूति कराती है वहा-वहा उन सभी दृश्यों का उनके रसों व रसावयवों (आश्रय, आलंबन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव या व्यभिचारी भाव) का विच्छेदन करके विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस विश्लेषण में फिल्म के अंगीरस- वीर रस के साथ-साथ उसके अंगभूत रसों के रूप में अंगीरस को पुष्ट करते हुए आचार्य भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित नाट्य के अन्य सभी सात रसों का पर्याप्त मात्रा में अस्तित्व परिलक्षित होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि फिल्म के अंगीरस- वीर रस को पोषित करने का काम इस फिल्म में स्थान-स्थान पर सुव्यवस्थित घटनाक्रम के ज़रिये नाट्य के अन्य श्रृंगारादि सातों रस बखूबी करते हैं। इसके उपरांत यह निरूपित किया गया है कि अपने 'नाट्यशास्त्र' के 'रसाध्याय' के अंतिम श्लोकों में नाट्य में उपस्थित आठ रसों के अतिरिक्त इन सभी रसों के मूल के रूप में आचार्य भरत मुनि द्वारा किये गये शांत रस के विवेचन के आधार पर देखने पर 'शोले' फिल्म के नायक- ठाकुर बलदेव सिंह के गाँव- रामगढ़ को शांत रस का निलय माना जा सकता है।

इन सभी रसों के विश्लेषण के उपरांत फिल्म की कथा में लक्ष्यित फल-प्राप्ति के क्रम में उनके योगदान का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। श्रृंगार, करुण, रौद्र आदि रसों का वीर रस को और पोषित कर अंतिम फल-प्राप्ति के प्रति फिल्म के पात्रों को ले जाने का क्रम यहां दर्शाया गया है। खासकर करुण रस का इस क्रम में अभूतपूर्व योगदान है। इसी कारणवश कई बार ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे करुण रस ही इस फिल्म का अंगीरस हो। अंगीरस का मूल अर्थ है वह रस जो फिल्म की पूरी कथा में आद्यंत उपस्थित हो। 'शोले' फिल्म की कथा में वीर रस के पश्चात सर्वाधिक उपस्थित रस करुण व हास्य रस हैं। उनमें भी करुण रस प्रधान घटनाएँ ही अन्य रसों के मुकाबले वीर रस को पोषित करने की कार्यसिद्धि में योगदान अत्यधिक दिखायी देता है। मगर नाट्य के अंगीरस के लक्षणों के आधार पर इस फिल्म का अंगीरस वीर रस ही होगा।

नाट्य के आठ रसों मे से जिन रसों को आपस में एक-दूसरे के विरोधी बताया गया है, जिन रसों का साथ में प्रयोग बिना किसी परिहार के नहीं किया जा सकता उन रसों का उल्लेख करते हुए इस फिल्म के चित्रण में उन विरोधी-रसों का एक साथ चित्रण हुआ है या नहीं, इस विषय पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इस फिल्म की कथा में स्थान-स्थान पर विरोधी-रसों को एक साथ चित्रित किया गया है जैसे कि श्रृंगार-भयानक, हास्य-करुण आदि। इन विरोधी-रसों का प्रयोग जहां-जहां हुआ है वहां-वहां उनके शास्त्रोल्लिखित परिहार भी देखने को मिलते हैं। कहीं पर चित्रित दोनों विरोधी-रसों के बीच अद्भुत रस के तत्व सम्मिलित किये गये हैं तो कहीं बाध्य रूप से या अंग रूप से दो विरोधी रसों का एक साथ वर्णन संभव किया गया है।

फिल्म में चित्रित सभी रसों के प्रदर्शन में फिल्मकार की तरफ से किसी भी प्रकार के अनौचित्य के कारण उत्पन्न होने वाले रसदोषों व सहृदय सामाजिकों द्वारा प्रस्तुत विषय को ग्रहण करने के क्रम में आने वाली समस्याओं को ध्यान मे रखकर उत्पन्न होने वाले रसदोषों का उल्लेख करते हुए आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 10 रसदोषों (कवि की दृष्टि से) की इस फिल्म में उपस्थिति को मूल्यांकित किया गया है। इस विषय पर विचार करने के बाद इस निष्कर्ष को प्रस्तुत किया गया है कि दोषरहित रसाभिव्यक्ति को इस फिल्म की अभूतपूर्व सफलता का एक प्रमुख कारण बताया जा सकता है। सामाजिकों की दृष्टि से वर्णित रसदोष तो सहृदय सामाजिकों की ग्रहण करने की असमर्थता, या किसी प्रकार के व्याघातों के कारण उत्पन्न होते हैं तथा इस कारण ये रसदोष अलग-अलग दर्शकों के लिए अलग-अलग हो सकते हैं व कुछ अधिकारी सामाजिक दोष-रहित रसानुभूति के पात्र भी हो सकते हैं। यें प्रस्तुति या अभिव्यक्ति के दोषों के अंतर्गत नहीं गिने जा सकते हैं। इस फिल्म की सफलता में निर्दोष प्रस्तुतीकरण की महत्ता को इसी कथा को लेकर वर्ष 2007 में बनायी गयी, निर्देशक राम गोपाल वर्मा की फिल्म 'आग' का उदाहरण देते हुए रेखांकित किया गया है।

इस प्रकार इन शोध-प्रश्नों का समाधान करने के उपरांत मेरे विचार में निष्कर्ष रूप में ये कहा जा सकता है कि- यह तो संदिग्धपूर्ण बात है कि 'शोले' फिल्म के निर्देशक रमेश सिप्पी ने इस फिल्म को बनाने से पूर्व आचार्य भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धांत का अध्ययन कर उसके आधार पर अपनी फिल्म के भावात्मक व रसात्मक पक्ष को चित्रित किया है या नहीं मगर फिल्म की रसाभिव्यक्ति व उसकी रस-योजना को देखकर ऐसा ही प्रतीत होता है कि शायद उन्होंने आचार्य भरत-प्रतिपादित रस-नियमों का अध्ययन करके ही यह कार्य संपन्न किया होगा। 'शोले' फिल्म की अद्भुत कथावस्तु, उसका दोषरहित निर्देशन, अभिनेताओं-अभिनेत्रियों का कुशल अभिनय, फिल्म के प्रबल, अत्यंत प्रभावशाली व अविस्मरणीय संवाद, इसके अत्यंत लोकप्रियता प्राप्त गीत व संगीत,

इसमें पात्रों का संयोजन आदि के अतिरिक्त इस फिल्म की कुशल व दोषरहित रस-योजना भी इस फिल्म को प्राप्त अभूतपूर्व ख्याति का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण है।

अपने इस लघु शोधकार्य को भले ही मैंने मात्र एक फिल्म की रस-योजना तक ही सीमित रखा है मगर आचार्य भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में प्रतिपादित अभिनय, रूपकों के दस प्रकार , नाटक की वृत्तियाँ आदि जैसे अन्य विषयों व अन्य फिल्मों के आधार पर भी यह कार्य किया जा सकता है और आज से लगभग 2000 वर्ष पूर्व रचित 'नाट्यशास्त्र' को आधुनिक सिनेमा के साथ जोड़कर उसकी प्रासंगिकता को स्थापित करने के लिए यह कार्य आवश्यक भी है। इस दिशा में भविष्य में इस प्रकार के शोधकार्य संभाव्य हैं। प्रस्तुत शोधकार्य को मैंने अपनी संपूर्ण श्रद्धा के साथ संपन्न करने का प्रयास किया है। किंतु संभव है कि इसमें कुछ त्रृटियाँ रह गयी हो या इससे उचित विवेचन संभाव्य हो। ऐसी खामियाँ अगर किसी को परिलक्षित हो तो उनके लिए माफी चाहती हूँ साथ ही इस बात की आशा रखती हूँ कि जिस उद्देश्य को लक्ष्यित कर मेंने यह कार्य संपन्न किया है उससे जुड़ें विषय में भविष्य में होने वाले शोधकार्यों के लिए यह शोधप्रबंध उपयुक्त होगा।

******

संदर्भ सूची

संदर्भ सूची

आधार ग्रंथ-

1. 'नाट्यशास्त्र'- भरत मुनि, संपादक- बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, भारतीय सांस्कृतिकसाहित्य के प्रकाशक तथा वितरक, पोस्ट बाक्स नं. 1139, के. 37/116, गोपाल मंदिर लेन, गोलघर (समीप मैदागिन, वाराणसी- 221001, भारत, टेलिफोन- 0542-2333445, 2335930, ई मेल- cssvns@gmail.com, 2017, वि. विं. 2073
2. 'काव्यप्रकाश'- आचार्य मम्मट, कपिल देव गिरि (संपादक), रघुनाथ प्रसाद चतुर्वेदी (व्याख्याकार), चौखंभा संस्कृत संस्थान, भारतीय सांस्कृतिकसाहित्य के प्रकाशक तथा वितरक, पोस्ट बाक्स नं. 1139, के. 37/116, गोपाल मंदिर लेन, गोलधर (समीप मैदागिन, वाराणसी- 221001, भारत, टेलिफोन- 0542-2333445, 2335930, ई मेल- cssvns@gmail.com, 2013, वि. सं.- 2069
3. 'साहित्य दर्पण'- आचार्य विश्वनाथ, शेषराजशर्मा रेग्मी (व्याख्याकारा), चौखंभा कृष्णदास अकादमी, के # 7/118, गोपाल मंदिरलेन, गोलघर (समीप(समीप मैदागिन), वाराणसी- 221001, भारत, टेलिफोन- 0542- 2333458 , 2013
4. दशरूपक- धनंजय, सत्यभामा बाइ पांडुरंग, निर्णय सागर प्रेस, 28, डॉ. एम् . बी. वेल्कर एस् टीटी, मरीन लैन्स ईस्ट, वागवाडी, कल्बादेवीकल्बादेवी, मुंबाई- 400002, भारत, पांचवाँ संस्करण- 1941

सहायक ग्रंथ-

1. 'भरत मुनि और उनका नाट्यशास्त्र'- डॉ. ब्रज वल्लभ मिश्र, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, 14 सी. एस. पी सिष्ट मार्ग, इलहाबाद- 211001, पहला संस्करण- 1988
2. 'रस सिद्धांत'- डॉ. नगेंद्र, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली- 110006, ततीसरा संस्करण- 1974
3. 'रस मीमांसा'- आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पुस्तक प्रतिष्ठान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली110002, पहला संस्करण- 2015
4. 'रस सिद्धांत : स्वरूप-विश्लेषण'- डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित , राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 1- बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002, भारत, पहला संस्करण- 1960

5. 'रस सिद्धांत : नये संदर्भ'- आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, लोकभारती प्रकाशन, दर्बारी भवन, महात्मा गंधी नगर, इलहाबाद- 211001, भारत, दूसरा संस्करण- 2010
6. 'भारतीय काव्यशास्त्र'- डॉ़ निशा अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, दर्बारी भवन, महात्मा गंधी नगर, इलहाबाद- 211001, भारत
7. 'भारतीय काव्यशास्त्र- डॉ़ उशा शुक्ल, कैलाश पुस्तक सदन, हमीदिया मार्ग, भोपाल- 462001, भारत,
8. 'भारतीय सिने-सिद्धांत'- डॉ़ अनुपम ओझा, राधाकृष्ण प्राकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002, भारत, पहला संस्करण- 2002
9. 'सिनेमा और संस्कृति'- राही मासूम रज़ा, वाणी प्रकाशन- शाखा- अशोक राजपथ, पाटना- 800004, भारत, www.vaniprakashan.in, ई मेल- vaniprakashan@gmail.com, संसकरण- 2011
10. 'भारतीय सिनेमा का अंतःकरण'- विनोद दास, मेधा बुक्स, एक्स- 11, नवीन शाहदरा, दिल्ली, 110032, भारत, संसकरण- 2009
11. 'साहित्य और सिनेमा अंतःसंबंध और रूपांतरण'- विपुल कुमार, मनीष पब्लिकेशंस, 471/10, ए- ब्लॉक, पार्ट- द्वितीय, सोनिया विहार, दिल्ली- 110094, भारत, ई मेल- manishpublications@gmail.com, पहला संस्करण- 2014
12. 'भारतीय सिनेमा का अंतःकरण'- विनोद दास, मेधा बुक्स, एक- 11, नवीन शाहदरा, दिल्ली- 110032, भारत, संस्करण- 2009
13. 'भारतीय सिनेमा- एक अनंत यात्रा' – प्रसून सिंहा, श्री नटराज प्रकाशन, 4378/4, बी 306, जे. एम् . डी, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली- 110002, भारतभारत, संस्करण-2009
14. 'लेखक का सिनेमा'- कुँवर नारायण, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 1- बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002, भारत, पहला संस्करण- 2017
15. 'अभिनव सिनेमा: रस-सिद्धांत के आलोक में वविश्व-सिनेमा का परिचय'- प्रचण्ड प्रवीर. वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली- 100002, भारत, पहला संस्करण- 2017
16. 'सिनेमा के बारे में'- नसरीन मुन्नी कबीर, असग़र वजाहत (अनुवादक), राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 1- बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002, भारत, तीसरा संस्करण- 2016

17. 'साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंध'- नीरा जलक्षत्री, स्टार पब्लिशर्स, 4/5बी, असफ अली रोड, नई दिल्ली- 110002, भारत, ई मेल- info@hindibook.com
18. 'सिनेमा की कला यत्रा'- इंदु प्रकाश कानूनगो, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002, भारत
19. 'भारतीय हिंदी सिनेमा की विकास यात्रा : एक मूल्यांकन'- डॉ. देवेंद्र सिंह, डॉ. वीरेंद्र सिन्ह यादव, पैसिफिक पब्लिकेशंस, एन 187, शिवाजी चौक, सादत्पुर एक्स्टेंशन, दिल्ली- 110094, पहला संस्करण- 2012
20. पटकथा लेखन : एक परिचय- मनोहर श्याम जोशी, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002, भारत, छठा संस्करण- 2018
21. 'आधुनिक पत्रकारिता'- डॉ. अर्जुन तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पोस्ट बॉक्स- 1149, विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी- 221001, भारत, ई मेल- sales@vvpbooks.com/ vvpbooks@gmail.com, चौथा संस्करण- 2004
22. 'साहित्यालोचन'- डॉ. श्यानसुंदरदास, वाणी प्रकाशन- शाखा- अशोक राजपथ, पाटना- 800004, भारत, www.vaniprakashan.in, ई मेल- vaniprakashan@gmail.com, पहला संस्करण- 2014
23. 'SHOLAY: The making of a clasic'- Anupama Chopra, Penguin Random House India Private Limited, 7th flor, Infinity Towers, C, DLF, Cyber City, Gurgaon- 122002, Haryana, India, First Edition- 2000
24. 'Our Films Their Films'- Satyajit Ray, Orient Blakswan Private Limited, 3-6-752 Himayatnagar, Hyderabad- 500029, Telangana, India, ई मेल- centraloffice@orientblackswan.com, Third Edition- 1993

शोधपत्र-

1. 'नाट्यशास्त्रीय तत्वों के आलोक में 'शोले' चलचित्र की समीक्षा'- ब्रिजेश कुमार मिश्र, नाट्यशास्त्रोक्तत्वानाम्, गोष्ठीगव्यम्- Dec 2015-16, राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थानम्, क. जे. सोमैय्यासंस्कृतविद्यापीठम् , मुंबई- 77

वेबसाईट-

1. http://www.bbc.com/culture/story/20150813-sholay-the-star-wars-of-bollywoo- 08/06/2019 (Date of Reference)

2. https://www.dnaindia.com/entertainment/column-is-sholay-the-greatest-film-of-all-time-writes-sajid-khan-2113328- 08/06/2019 (Date of Reference)
3. https://www.india.com/showbiz/40-years-of-sholay-40-facts-to-know-about-indian-classic-movie-released-on-independence-day-502440/- 08/06/2019 (Date of Reference)
4. https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%B6%E0%A5%8B%E0%A4%B2%E0%A5%87_(1975_%E0%A4%AB%E0%A4%BC%E0%A4%BF%E0%A4%B2%E0%A5%8D%E0%A4%AE)- 08/06/2019 (Date of Reference)
5. https://www.quora.com/What-is-so-great-about-Sholay- 08/06/2019 (Date of Reference)
6. https://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18- 15/08/2019 (Date of Reference)

******